* दूब के फूल *

अन्य प्रकाशन

दूब के फूल

(कहानी-संग्रह)

लेखिका

लीला अवस्थी

भूमिका लेखक

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

प्रकाशक

हिंदिया प्रकाशन

१८६२ चांदनी चौक

दिल्ली

प्रकाशक :

हिंदिया प्रकाशन

१८६२, चादनी चौक,

दिल्ली ।

*

मूल्य तीन रुपये

मुद्रक :

नारायण फाइन आर्ट प्रेस,

४२६२, गली बहूजी,

दिल्ली ।

अर्पण—

ठोक-पीट कर
दुनिया के हर आघात सहने योग्य बनाया
मेरी उस मा के चरणों मे
वाणी मन्दिर के प्रथम अक्षत—चन्दन
ये तुच्छ—
"दूब के फूल !"

आपसे—

मेरी पहली ही कृति है जो अनेक अवरोध हटाकर आपके हाथों में जा रही है। किसी भी क्षेत्र में प्रथम चरण रखते हुए जैसा संकोच हर पल मन को चौंकाता रहता है, वैसा इसके साथ भी है।

पहली बार क्षेत्र में उतरने वाले खिलाड़ी के पीछे उसके गुरुजनों, अग्रजों, समवयस्क मित्रों और अनुजों का बल प्रेरक होता है, वैसे ही इस क्षेत्र में अनेक सदिच्छाएँ मेरा बल बनीं। सब के नाम गिनाने मात्र से उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन पूर्ण हो जाता है, इसे मैं कैसे मान लूँ ? और बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की दुनिया वैसी है भी नहीं। हर व्यक्ति और नाम के साथ अन्योन्याश्रित दल या फिरका बना कर उसमें मुक्त सांसों को कैद किया जाता है। अतएव, कुछ नाम ओठों पर होते हुए भी उन्हें बचाकर चल रही हूँ क्योंकि मुझे रुकना नहीं है।

ओजस्वी वाणी और लेखनी के लिए विख्यात, दादा, स्वरूप श्रद्धेय पं० माखनलाल चतुर्वेदी जी ने संग्रह की भूमिका लिखकर जैसे मेरी साहित्य-यात्रा का पाथेय जुटा दिया है। ऋण चुकाने के लिए मेरे पास शब्द नहीं।

श्री प्राणनाथ 'बाबा' और हिन्दिया प्रकाशन के प्रेम गोपाल मेहरा जी को किन शब्दों में धन्यवाद दूँ जो उन्होंने अत्यन्त थोड़े समय में यह संग्रह बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित किया।

इसमें संग्रह के नाम की एक भी कहानी नहीं है, तब भी पुस्तक का नाम "दूब के फूल" रखने का एक उद्देश्य है। ये कहानियां नारी जीवन की उसांसों से गूँथी गई हैं। पुस्तकों में छपे सिद्धान्तों और धर्मग्रंन्थों में नारी को मिले व्यर्थ के शाब्दिक...सम्मानों के बाद भी भारतीय-जीवन के जंगल में नारी "दूब के फूल" सी नगण्य, कुचली हुई, तुच्छ और व्यक्तित्व-हीन ही रही है। माना कि वह हरियाली सी मंगल और प्रिय लगती है, पर किसी भी समय कोई अयाचित पशु आकर उस विवश को चर जाता है। दूब में फूल नाम मात्र को दीख पड़ेगा। इसके जीवन में भी सुख की पंखुड़ियाँ दो-चार ही खुलती हैं और सौरभ महकने के पूर्व ही मसल दी जाती है। रह जाती हैं पक्तियाँ-घास की अशोभन, बेमतलब पक्तियां। पैनी धार वाली, सूखी, डंठल सी विरूप पंक्तियाँ—जिन्हें कभी कोई पशु ही चारा बना सकता है। यह प्रतीक-सा शीर्षक इन्हीं विचारों में उगा है। इसमें ऐसी ही नारियाँ पात्र बनी हैं जिन में "फूल" पन नाम-मात्र का और "दूब" पन की ही भरमार है।

अधिक आप जाने। रसज्ञ पाठक और सुधी विवेचक के नाते कहानियाँ आपके सम्मुख रखकर मैं अपनी अन्य कृति की तैयारी में विघ्न लेती हूँ।

—लीला अवस्थी

दो शब्द

सुश्री लीला अवस्थी जी का कहानी संग्रह दूध के फूल कुछ दिनों से मेरे पास है। मैंने उस की कहानियाँ पढ़ीं बिल्कुल पारिवारिक हैं। यह कहानी केवल मनोरंजन नहीं, इनका आधार मनोरंजन भले ही हो आकार मनोरंजन नहीं। यह तो वर्तमान नारी युग के आकार-प्रकार पर पहनाये हुये सूक्ष्म के सुन्दर वस्त्र से मालूम होते हैं। यह कहानियां खिलौनों की तरह शुरू होती हैं, होनी की बीती हुई घटाओं की मसोस पैदा करती हैं और पाठक को परिणाम पर पहुँचाने के लिये खुला छोड़ देती हैं। मैं इसे पारिवारिक इस लिए कहता हूँ कि वे खूब सच्ची सी लगती हैं... लगता है, लेखिका ने कानों सुनी और आंखों देखी। बीती के आधारों पर इन की रचना की। यह पारिवारिक इस लिये भी हैं कि वे सम्बन्धों को उकसा कर मन को उलझाती हैं और इस लिये भी कि "होनी" का रूप नहीं बदलने देती। किन्तु इन कहानियों को पारिवारिकता वहां अधिक उजली हो जाती हैं, जहाँ वे अपनी कहानियों में समाज के किसी अंश को क्षमा नहीं करतीं।

यह कहानियां नारी समस्या पर ही अधिक बल देती हैं, परिस्थितियाँ उपस्थित करती हैं, उन की गम्भीरता से वातावरण बनाती हैं और सुलझाव के दरवाजे पर आ कर मौन रह जाती हैं। कहानी कला ही के लिए नहीं, कला मात्र के लिए कहा जा सकता है कि, जिस तरह युग बदलता है, कला के निर्माण भी बदलते हैं

किन्तु लेखक भी बदलते हैं और पाठक भी बदलते हैं, इस दृष्टि से मैं लीला जी के इस कहानी संग्रह को उनकी प्रतिभा का प्रारंभ मानता हूँ। यह संग्रह नारी की कठिनाइयों पर नारी की बेचैनियां हैं। अपनी रचना के जिस क्षेत्रों में लीला जी ने नारी को अभी देखा है अथवा साहित्य के द्वारा समाज के सन्मुख उपस्थित किया है, उससे बहुत बड़ी नारी की समस्या है और वह स्थान दूर नहीं कुछ दूर जाकर नर...नारी की समस्या अभिन्न हो जायेंगी। कहानी से अन्य कलाओं की तरह शास्त्र संस्कार और इतिहास वसूल करने बैठ जाते हैं किन्तु कहानी-युग का नहीं। क्षणों का संकलन होता है। पूरा जीवन नहीं, उसका अंश मात्र ग्रहण करती है, और अपरिमित नहीं परिमित परिणाम उपस्थित करती है। इस दृष्टि से लीला जी का यह अच्छा प्रारम्भ है। मैं इस की हिमायत करता हूँ।

खंडवा, ४ सितम्बर १९५५ माखनलाल चतुर्वेदी

विषय-सूची

बिन्दो का भैया

चबूतरे पर बैठा कबूतर गुटर-गूँ, गुटर-गूँ कर रहा था। उसकी देखा-देखी कुछ दूर पर बैठा दूसरा कबूतर भी गुटर-गूँ गुटर-गूँ, करने लगा। मदन का ध्यान कबूतरो की इस गुटर-गूँ की ओर खिच गया। एक टक देखने लगा। विचार उठे यह कबूतर भी कैसे हैं। देखा-देखी गुटर-गूँ, गुटर-गूँ करते हैं। एक मिनट को भी चैन से नही बैठा जाता, बिल्कुल उसी तरह जिस तरह बिन्दो और मैं एक मिनट को भी चैन से नही बैठा करते थे। बचपन से लेकर अभी कल तक हम देखा-देखी एक दूसरे को चिढाते, गाली देते, मार पीट शुरू करते, बाल नोचते और फिर माँ हम दोनो को कुछ देर के लिए अलग-अलग कमरे में बन्द कर देती; कहती, ये दोनों पहले जन्म के दुश्मन हैं जो अब भाई-बहन बनकर मेरे घर आए हैं। इस दुश्मन शब्द को हम दोनो खूब चबाते और पहले अवसर पर हम एक-दूसरे पर न जाने किस जन्म की दुश्मनी उतारते। मार-पीट, गुट्टम-गुट्टा, नोच-खसोट, खीचा-तानी और न जाने क्या-क्या ! इन सब में हम दोनों को किस बात का सन्तोष मिलता वह भगवान् ही जानता था।

मदन इसी प्रकार के विचारों में डूबा था कि एक मक्खी उसके माथे

पर आ बैठी। मदन ने उसे उड़ाने के लिए हाथ हिलाया, अकस्मात् उसकी उँगली माथे पर लगे बहुत पुराने घाव पर पड़ी। यह घाव भी तो बिन्दो की निशानी है। एक दिन जब मैं ६-७ वर्ष का था, हम दोनों पलंग पर बैठे खेल रहे थे। खेल-खेल में हम दोनों झगड़ पड़े। बिन्दो ने मुझे धक्का मारा और मैं पलंग के नीचे जा गिरा, और एक रील के कारण मेरे सिर में यह घाव! ओह! यह घाव!...और हमारे भोले बचपन के स्नेह की एक भयानक भूल थी। एक अजीब-सी रंगीनी लेकर मेरे स्मृतिपट पर उभर आई। जब मैं १०-११ वर्ष का था, मुझे टाईफाइट हो गया था। बिस्तर पर लेटे-लेटे २०-२२ दिन हो गये थे। मैं नमकीन आलू खाने को तरस गया। माँ से माँगा तो मनाही हो गई, पर बिन्दो ने माँ से छिपकर मुझे आलू खिला दिया...और इस लुक-छिपकर खाने का परिणाम था रिलेप्स टाईफाइड। ओह, यह स्नेह का भोलापन कभी-कभी कितने सितम ढाता है।...जैसे आज . ...

पति को चुप बैठा देख कान्ता पास आकर मुग्धा की तरह शरमा कर कुछ मुस्करा कर बोली—"बिन्दो दीदी की भेजी राखी आ गई है। उन्होंने कहा है कि, पड़ोस में पम्मी की छोटी बहन टुन्ना से राखी बँधवा लेना।"

"हूँ" करके मदन उठकर चला छत की ओर। पम्मी बिन्दो की देवरानी बन गई है, तो पम्मी की छोटी बहन मुझे राखी बाँधेगी और वह भी बिन्दो के बदले। इन्हीं विचारों के बहाव में न जाने कितनी रात हो गई।

जमुना की उजली कछारें, दूर पर छितरे हुए काले भूरे पठार, सब इस समय रात के गहरे सन्नाटे में चुप! अगस्त की उजली रात का गहरा ऊँचा आसमान, जहाँ से झरती हुई चाँदनी चमेली की फुहार-सी लग रही है।

जब तक बिन्दो पास थी उसकी याद नहीं आती थी और आज उस

उसकी याद तूफान बनकर, वर्षों का वेग लेकर आ गई है और मेरा मन एक सूखे पत्ते की भांति इधर-उधर उड़ता लड़खड़ाता जा रहा है।

मदन ने एक आह भरी, आँख आसमान को देखने लगी। तारों के नगीने वाले आसमान के चन्दोवे में, बिन्दो मुस्करा रही थी मदन भी मुस्कराया।

ईशाण कोण में, तारे बराबर टूट-टूटकर लम्बी पूँछ लिए मिट-बुझ रहे थे। प्रत्येक वर्ष हम दोनों इसी छत के चबूतरे पर खड़े होकर राम-लीला की सवारी देखा करते थे। सवारी के दो घंटे पहले हम दोनों लक-झक तैयार होते। बिन्दो लाल रिबन लगाती, कासनी के फूल वाला फिराक पहनती और मैं निक्कर और नीली कमीज़ पहनता। फिर हम दोनों पूरे चबूतरे को नापते थे, आधे पर लकीर खींचकर चबूतरे को आधा-आधा बाँट लेते। जब तक सवारी के नगारे सुनाई न देते, दोनों में नोच-खसोट चलती रहती। इसी चबूतरे के पत्थरो की ओट में बचपन के नगमे के फूल, सब कुछ बन्दी है।

मदन का भाईपन झरती हुई चाँदनी की झील के कूलों में तड़प रहा था। कछार की कँटीली झाड़ियों के ऊपर से आती हुई हवा में मदन का ढीला कुरता उड़ रहा था। गश्तियों की डरावनी आवाजें उस समय धुँधले दीखते हुए मोहल्ले की दीवारों के पास उठती हुई लग रही थी। आकाश में तैरते हुए तारों के साथ मदन को लगा कि वह बहन की याद के साथ उड़ रहा है...जा रहा है . पता नही किस ओर।

यमुना के पार सियार और गीदड़ शायद चाँदनी के जिस्म को नोचते हुए 'हुआ' 'हुआ' कर रहे थे। मदन के भाईपन को इतनी खूबसूरत याद में डूबे हुए, सियार और गीदड़ अच्छे न लगे। मगर ऐसा लग कर ही क्या हो जाता है। आसमान से रिमझिम याददाश्त झर रही थी और मदन आँखें बन्द किये पी रहा था बचपन एवं बहन की याद।

सामने पार्क के फव्वारे में से रंग-बिरगा जल छूट रहा था। मोमबत्तियों पर से गिरता हुआ पानी अनेक छोटे-छोटे इन्द्रधनुष बना रहा था।

कितनी अच्छी थी मेरी बिन्दो, और उसकी याददाश्त भी कितनी पैनी है मेरे अन्तर को नोच-नोचकर मुझे बावला बना रही है। जब तक वह इस घर में थी घर की ईंट-ईंट मे उल्लास था, हँसी के ठहाके ये और था विशुद्ध पवित्र प्यार। कुवारियों का घर और बहुओ वाला घर कितना भिन्न होता है। पिता जी ने क्यों बिन्दो की शादी इतनी जल्दी कर दी। एक महीने के अन्दर ही अन्दर इस घर से कुँवारी गई और विवाहिता आई। मदन के अन्तर को यह परिवर्तन प्रिय नही लगा। आँखे कुछ भर आईं तो माथा ऊपर उठा। ऊपर आसमान मे चाँदनी कुँवारी से युवती, युवती से नायिका और नायिका से वृद्धा हो रही थी। सिर के ऊपर से कबूतर का एक हलका पख गिरा और मदन चौक गया।

जागती हुई रात की आँखे भी सिदूरी होने को थी। मदन को अपने आप पर हँसी आ गई। वह सिर झुकाए अपने कमरे की ओर जाने लगा और जा रही थी साथ मे उसकी धुँधली छाया। दूर पर से मछत्रों के खपरैलो पर से उडती हुई हवा चली आ रही थी।

जिस प्रकार पार्क वाले फव्वारे के ठण्डे पानी की सतह मे मछलियाँ निश्चल सो रही थी उसी प्रकार मदन अपने पलग पर निश्चल लेट गया और बहन की याद के मन्द-मन्द झोकों मे उसकी आँख न जाने कब लग गई।

दूसरे दिन, सूर्योदय के तीन-चार घण्टे बाद तक मदन निश्चल पड़ा हुआ बहन की याद लिये सो रहा था, जब तक कही दूर से कोई लाउड-स्पीकर पर चिल्ला रहा था, "मोती टाकीज मे आज 'भाई-बहन' देखिए। भाई-बहन देखना मत भूलिये; कामिनीकौशल, दिलीपकुमार आप का स्वागत करेंगे। मोती टाकीज में भाई-बहन..." फिर रेकार्ड बजा "राखी

का आया त्यौहार। राखी का आया त्यौहार सखी। राखी का आया त्यौहार।" मदन चौंक उठा। आज राखी का त्योहार है...पर, ओफ! बिन्दो नहीं है। यह बिन्दो के ससुराल वाले कैसे हैं। आज के लिए क्यों नहीं भेज सकते मेरी बहन को...माना उस घर की बहू है पर इस घर की बहन भी तो है। सूरज की किरणें कमरे के कई झरोखों से अन्दर झाँक-झाँककर हँस रही थी। रोज यही किरणें मदन को छत वाली पलंग से उठाया करती। किन्तु आज कमरे के अन्दर क्यों? और फिर रोनी सूरत लिए, मदन को ये किरणें अच्छी नहीं लगीं।

"अरे मदन जल्दी से नहा कर राखी बधवा ले।" माँ की आवाज़ ने उसे चौंका दिया। माँ की इतनी तीव्र आवाज है, उसे आज ही ज्ञात हुआ। "माँ हर साल मामा के लिए राखी भेज दिया करती है, तो क्या अब से हर साल बिन्दो भी मेरे लिये राखी भेजा करेगी?...नहीं...नहीं ...कभी नहीं। बिना बिन्दो के राखी का क्या अर्थ? बिना प्रेम के भगवान की मूर्ति केवल पत्थर है। बिना बिन्दो के राखी साधारण सूत है।" "मदन ने माँ को जवाब दिया..." माँ राखी बंधवा ने से क्या होगा...मैं नहीं बँधवाता। "माँ को लगा जैसे उसके भाई ने उस की भेजी राखी का तिरस्कार कर दिया है। घायल शेरनी की भाँति वह रसोई से बाहर आई मुख तमतमा गया। आँखें चंचल हो उठीं। स्वर तीव्र हो गया, उस तम-तमाए हुये मुख-मण्डल को साड़ी का पल्ला न ढाक सका। उसने कम्बे की शरण ली—माँ बोली......।"

"मदन चुपचाप नहाकर तैयार हो जा। बहस मत कर।"

मदन ने तय कर लिया था कि वह राखी बिन्दो से ही बँधवायेगा। नहीं तो उसका हाथ सूना ही रहेगा।

कान्ता ने अपने पतिको देखा और उसके सुडौल बदन पर फूली हुई हरी नसों से भरी हुई उनकी बाँहें। वह अपने पति के गले में अपने 'दोनों' हाथों

को माला बना देना चाहती थी। पर वह नवविवाहिता कुछ कह नही सकी।

सूरज चढ चुका था। माँ की रसोई में सेवईं तैयार थी। बैठक में राखी चाँदी के थाल मे सजी थी। पास मे कान्ता और टुन्ना बैठी थी। कमरे मे घुसते ही मदन को बचपन के वे दिन याद आये जब बिन्दो और वह पहले ही मिठाई का आधा-साझा करते, राखी बँधवाई के बदले में दिए जाने वाले रुपये का आधा करते। जब सारा आधा-साजा, नोच-खसोट खत्म हो.जाता तब बिन्दो राखी बाँधकर चिढाती, "मदन के हाथ मे बिन्दो का नेकल।" वह चिढ़ जाता और बिन्दो तालियाँ पीट-पीटकर नाचती। मदन का सिर घूम गया। कमरे से निकलते हुए मदन ने कहा—"मैं अभी बिन्दो की ससुराल जा रहा हूँ। दो क्षण मे वह घर से निकला और गली को पारकर स्टेशन की ओर बढ गया।"

नयी आँधी

सरयू बाबा के हाथ मशीन की तरह पराठे बेलते जा रहे थे और करारे-करारे सेककर थाली पर रखते जा रहे थे। मंगू पहाड़ी दौड़-दौड़कर कभी पराठे, कभी साग-सब्ज़ी, कभी चटनी ग्राहको की पत्तल पर डालता जा रहा था। मंगू को सरयू बाबा की चुप्पी पर अचरज हो रहा था। नही तो बाबा की हाथ भर की जबान भी मशीन की तरह फुर्ती से चलती थी। कभी ग्राहकों से बात करते और कभी मंगू पर हुक्म चलाते। ग्राहक भी मन लगाकर बाबा की बाते सुनते। दिल्ली के पराठे वाली गली के किस्से-कहानी सुनाते, किनारी बाज़ार के कारोबार का ब्योरा सुनते; देहली वालो के रहन सहन पर कभी न खत्म होने वाली कथा सुनते। बाबा की चुप्पी मगू से न सही गई, इसलिए वह बोल ही उठा—

"बाबा, आपकी तबियत ठीक नही है। मैं बना दूं पराठे ?"

बाबा की चुप्पी को जैसे झटका लग गया हो। मंगू की ओर देख-कर बोले...।

"तू खाना परोसे जा, मैं पराठा बना रहा हूँ। जरा बाहर झांक के देख तो रामू तो नही लौटा।"

मंगू ने दूकान से ही बाहर झाँक के नाही मे सिर हिला दिया। बाबा फिर चुप हो गये और पराठा बेलने लगे।

रामू सरयू बाबा का इकलौता बेटा है। बचपन से अब पन्द्रह वर्ष होने आया। वह किनारी बाजार और पराठे वाली गली की मिट्टी पर खेलता-कूदता, पढता बडा हुआ। जो परम्परा रहने, खाने की अब तक सरयू बाबा के कुटुम्ब मे आ रही थी, उसी परम्परा मे रामू भी पल गया। जब कभी वह नाते-रिश्तेदार के घर जाता तो अपने बाबा की तरह जरा-सा खाँसकर घर मे घुसता था। किसी नारी से बात करता तो सिर झुकाकर बात करता। पिता की आज्ञा तो बिना सोचे-विचारे पूरा कर देता था। जब कभी माँ से मिलने पास-पडोस या रिश्तदार की माँ बहने आती तो रामू सिर झुकाकर घर से निकल जाता। पडोसिने इस बेवकूफी को देखकर हँसती और रामू की माँ को चिडाती। रामू रात को दूकान बन्द करके पिता के पीछे-पीछे घर आता। इस आज्ञाकारी पुत्र की सब मुँह खोलकर प्रशसा करते और सरयू की तकदीर की सराहना करते। सरयू के पास-पडोस मे पराठे वाले, गोटा-किनारी वाले एव चन्दू दूब वाला रामू के लिये अपनी बिटिया ताईं जोडा अच्छा समझते। रामू भी पराठे वाली गली को अपना समझता, उसे दो कदम चलकर चाँदनी चौक जाने मे कोई रुचि न थी। सुबह-शाम दूकान मे काम करता और फुरसत के समय अड़ोस-पड़ोस में गपशप करता। इसी प्रकार समय कट रहा था।

समय पलटा, पाकिस्तान से आ-आकर शरणार्थी दिल्ली पर आँधी जैसे छा गये। बागों मे, पार्कों में बड़े-बड़े कैम्प बस गये। दिल्ली के नौजवान इन अतिथियों के खाने-कपड़े का इन्तज़ाम करने लगे। रामू को इन समाचारों से बड़ा अचरज होता। मन मे विचारों की आँधी उठती। एक दिन उससे रहा नही गया और वह पराठे वाली गली से

निकल कर चाँदनी चौक आया। चाँदनी चौक की चहल-पहल दुगुनी हो गई थी। कई प्याऊ, खोंमचे वाले दीखने लगे। सलवार कमीज़ पहने नारियाँ आदमी की चाल चलकर निकल जातीं। सिर पर महीन दुपट्टा। रामू देखता का देखता रह गया। वह भूल गया कि वह कहाँ खड़ा है। हाँ, उसे इतना मालूम था कि पराठे वाली गली की नारियाँ हल्का घूँघट डाले अपने पूरे शरीर को खूब ढँके, किवाड़ की आड़ में ही रहती थीं, कभी सड़क पर आना भी पड़े तो बिना चादर ओढ़े नहीं आती थीं और चाँदनी चौक मे पाकिस्तान से आई नारियाँ ललकारती हुई निकल जातीं। पराठे वाली गली में नारियाँ सिर झुकाये बच-बचकर निकल जाती हैं और चाँदनी चौक मे आदमियों को बचना पड़ता था। पराठे वाली गली में कोमलता और सौन्दर्य सन्दूक में बन्द था। चाँदनी चौक में वह खुला दिखाई देता था। बस इसी दिन से रामू का मन गली से उठकर चाँदनी चौक में आ गया। दूकान में मन न लगता। जब देखो तब उसकी आँखें चंचल हो उठतीं और दूकान से भागने को करता और आज तो सरयू बाबा से घन्टे भर की छुट्टी लेकर गया तो दिन-भर हो गया। बाबा की परेशानी हर पल बढ़ती जा रही थी। बार-बार सड़क की ओर देखते और पराठे बेलते, कभी पराठे सेंकते।

बाबा के मन में तरह-तरह के विचार उठने लगे—"रामू मोटर के नीचे तो नही आ गया, अस्पताल में तो नहीं भेजा गया। बदमाश उसके पीछे तो नहीं पड़ गये।...फिर बाबा से न रहा गया। ग्राहकों के उठते ही तवा नीचे उतारा और चल पड़े दूकान से। पराठे वाली गली के छोर पर पहुँचे ही थे कि एक फटफटी आँधी जैसे सामने से निकल गयी जिसमें रामू सलवार कमीज़ वाली लड़की के साथ घुल-मिलकर बातें कर रहा था। उल्टे पाँव बाबा लौट आये, आँखों में आँसू और मन में घुटन छिपाये।

प्रतीक्षा

आज पुष्पी से सर्वेश की नाराजगी सही नहीं जाती थी। वह अपने सूने छायामय बरामदे में अपने कच्चे नारियल जैसे स्वच्छ, तरल मन पर पड़े दुःख को सहने के लिए शक्ति बटोर रही थी। सर्वेश का घर दो-चार फ़र्लांग की दूरी पर था, उसके घर में केवल एक वृद्ध पिता है। सर्वेश और पुष्पी बचपन से साथ खेले, कूदे, लड़े और साथ ही बड़े हुए। किन्तु सर्वेश को शिक्षा के निमित्त बनारस जाना पड़ा। इस दूरी ने बचपन के प्यार को यौवन प्यार में बदल दिया। अब जब सर्वेश लम्बी छुट्टी पर घर आता तो वह पुष्पी से अनजानी उच्छ्वसित आकुलता लिए मिलता—मिलन भी क्या होता है? पपीहे की प्यास सा; चाँदनी की हूक सा।

मगर आज पुष्पी का मन अपने आपको कचोट रहा था। सर्वेश हर छुट्टी में घर आता हँसता, बोलता, और मुस्कराता हुआ। जब से पुष्पी ने होश सम्हाले हैं उसने सर्वेश को इसी प्रकार आते-जाते देखा है और आज वह इसी बात की अभ्यस्त हो चुकी है मगर आज सर्वेश का कहीं पता ही नहीं। वह प्रतीक्षा करते-करते थक चुकी है। माँ ने सुबह से कई बार कहा—"अरे पुष्पी, सर्वेश को घर से बुला ला ना!"

और वह चुप है, शान्त है। उसका मन कुछ नही चाहता। वह तो कही खो रहा है, क्लान्त हो रहा है। आज की धूप कम्पित सहजन और मेहदी लता की शाखाओ के भीतर से छन कर और छाया के साथ घुलती-मिलती बरामदे मे आ रही थी। छाया से उतरती हुई धूप दग्ध नही होती। मगर सर्वेश के अभाव ने पुष्पी के मन की अन्तः छाया को आलोडित कर रक्खा है। किसी भी छाया का अपना कोई अस्तित्व नही होता। प्रतिध्वनित अभाव ही उसका अस्तित्व है। आज सर्वेश के अभाव की प्रतिध्वनियाँ पुष्पी के मन पर उठ रही हैं, गिर रही हैं और पुष्पी कुण्ठित-कुण्ठित सी रह जा रही है। उसका कही कुछ वश नही है।

सर्वेश एक गरीब मुनीम का लडका है। वह भावुक है, कवि है। उसके गीतो मे अवदातमुखी ओस-सी निर्मल, सरल, भाव-विह्वल कमनीयता और कोमलता होती है। सर्वेश की आँखे उज्ज्वल हैं, स्निग्ध हैं, उतनी जितनी पूनम का सलोनापन, उसकी प्रीति से छल-छलाती पावनता। विदाई के दिन पुष्पी ने सर्वेश को गोमती के तट पर अश्रुपूरित मन से विदाई दी थी। तब नदी की धारा मानो निश्चल हो उठी थी। क्षितिज और अधिक झुक चला था। उस समय पुष्पी को इसका कुछ भी ध्यान नही हुआ था, पर आज जैसे सब कुछ उसे ठीक-ठीक याद आता जा रहा हो।

और उस समय सर्वेश भी कम विह्वल नही था। वह उसे सात्वना देने का बार-बार प्रयत्न कर रहा था, मगर मानो वह स्वय ही डूबता जा रहा हो। विदा के क्षण कितने स्पन्दनशील होते हैं ! काश, उन क्षणों का स्पन्दन थम सकता हो, एकाकार हो सकता हो। विदा के पश्चात् जो पार्थक्य आ जाता है, उसमें विदा के क्षणों का स्पन्दन सदा-सदा के के लिए गूँजता रहे, हूकता रहे—आज पुष्पी ऐसी ही गहरी-गहरी कल्पना करने लगी थी। सर्वेश का अभाव उसे दार्शनिक बनाए डालता

प्रतीक्षा

आज दिवाली है। अनगिन दीपों की पाँतों में झिलमलाती रात। आज की आभा को दीपों का उज्वल नेह हिम हास-सा मुखरित कर देगा। और यही दीप आज की रात पुष्पी के लिए आँसुओं की तरह टिम-टिमाते हुए बस रिक्त हो-हो कर हो रह जाएँगे और पुष्पी सारी रात आँखें पसारे टुक-टुक ही देखती रह जाएगी इधर-उधर। ये दीप और उनकी आँसू भरी प्रतिच्छाया अभी से पुष्पी के हृदय पर बिखर रही थी। खिड़की के सामने गोमती अपनी मन्थर गति में बहे जा रही थी। लहरें उठ रही थी, गिर रही थीं और पुष्पी प्रतीक्षा कर रही थी—दिन डूबने की, रात होने की, दीपों के जगमगाने क़ी और तब वह उन दीपों में अपनी अश्रुधारामयी प्रतिच्छाया खोजेगी। सर्वेश...सर्वेश सर्वेश... काश वह कुछ जान पाता कि आज के दिन पुष्पी पर क्या-क्या बीती है और वह स्वयं कितना निर्मम है?

× × ×

उधर—

उस दिन कालेज में एक प्रतियोगिता-समारोह था। पन्ना ने सर्वेश का परिचय एक छात्रा से कराया। वह सुन्दर थी, पर उसकी आँखों में असाधारण गाँभीर्य था और उसके व्यक्तित्व में एक विचित्र उदासीनता। उसका नाम था केशी। परिचय के क्षणों में सर्वेश किसी अज्ञात भावना से विचलित हो उठा था। प्रतियोगिता के समाप्त होते-होते दिन डूब चला था; संध्या के उदास अँधियारे में पुष्पी की छाया उभर-उभर रही थी और केशी......केशी। उसके शान्त नयन, सान्ध्य-सा चकित यौवन, कैसा अदम्य आकर्षण है उसके वातारण में। सर्वेश अवश-सा कभी इधर कभी उधर ठिठक-ठिठक पड़ रहा था।

उसी समय पीछे से पन्ना ने कहा: "सर्वेश, आज बहुत खोए-खोए हसे ो तुम...और क्या केशी कुछ सता गई है तुम्हें?"

"नही, हाँ पन्ना ! मैं पुष्पी की बात सोच रहा हूँ ?"

"पुष्पी, कौन पुष्पी ?"

"पुष्पी मेरी है, मैं उसे चाहता हूँ, इतना ही कह सकता हूँ ।"

"पुष्पी को चाहते हो और केशी से डरते हो; क्यों ?"

'केशी को मैंने आज प्रथम बार देखा है और उसके लिए मैं कुछ नही सोच पाता ।"

उस दिन की बात वही समाप्त हो गई और सर्वेश के मन पर केशी को चमक शनै-शनैः लुप्त होती गई ।

× × ×

शरद् की एक उदास सध्या ।

माँ और बहन के चले जाने पर केशी अकेली रह गई थी अकेलापन वह सदैव से चाहती रही है । उस समय इतने लम्बे-चौडे कमरे मे मोम-बत्तीदान के नीचे कुर्सी की गद्दी पर सिर टेके हाथ पर हाथ धरे वह बैठी थी । पुस्तको का ढेर उसके सामने था और चेहरे पर गहरे विषाद की छाया । बिल्कुल एकान्त के अवसरो पर केशी को उदासीनता बुरी तरह ढँक लेती थी ।

बाहर पद-ध्वनि सुन कर वह चौक पडी, सर्वेश केशी को अकेला देख कर, ठिठका पर यह सोच कर कि और लोग दूसरे कमरे मे होंगे, वह आगे बढा किन्तु केशी उसके सामने खडी थी ।

'नमस्कार' केशी ने नमस्कार किया उससे ।

'नमस्कार' बहुत धीमा उत्तर दिया सर्वेश ने ।

फिर दोनों ही किंकर्त्तव्य विमूढ खडे थे ।

"हे भगवान् ! कैसी अजीब स्थिति है ?" सर्वेश सोच रहा था ।

इसी बीच केशी फिर पहले की सी शान्त अवस्था में आ गई थी । चेहरे पर फिर पुराना उदास भाव फैल गया ।

"तुम्हारे पिता अच्छे हैं ?"

"ठीक है, धन्यवाद।"

केशी के पिता सर्वेश के कालेज में प्रोफ़ेसर थे, और इधर वे कुछ अस्वस्थ थे। सर्वेश के पूछने के ढंग से यही लगता था कि वह इसलिए आया है।

"और बसंत ?"

"वह भी अच्छी है।"

बसन्त केशी की छोटी बहन थी।

सन्नाटा फिर छा गया। सर्वेश को विचित्र मीठा-कड़ुवा अनुभव हो रहा था।

उसने पूछा : "और आप ?"

इस बार उसके स्वर में उलझाहट थी। केशी ने किसी उठते हुए तूफ़ान को मानो दबा लिया हो, बोली—"हाँ, मैं बहुत ठीक हूँ।"

क्योंकि केशी अकेली थी और वह अपने को कुछ का कुछ नहीं कहलाना चाहता था—यह ख्याल आते ही वह वहाँ से भाग निकलने की सोचने लगा।

"मैं इसीलिए यहाँ चला आया कि पन्ना ने मुझ से कहा था कि प्रोफ़ेसर साहब का स्वास्थ्य कुछ ज्यादा ख़राब है।" उसे स्वयं लगा, मानो अपनी सफ़ाई दे रहा है।

"वे अब तो खूब स्वस्थ हैं।"

"घर के और लोग कहाँ गए हैं ?" सवाल अटपटा था। पर वह कुछ और बात करना चाहता था।

"घूमने"

"तुम नहीं गईं ?"

"नहीं, मुझे घूमना-घामना ज्यादा पसन्द नहीं।"

"क्या पढना ही पसन्द है ?"

"हाँ, बस पढना ही पढना।"

"क्या यह भी ख्याल नही रहता कि अधिक पढना हानि करेगा।"

"मेरी आँखे अच्छी हैं ।" नेत्र उठा कर केशी ने सर्वेश की ओर देखते हुए कहा।

"सुन्दर आँखे हैं"—सर्वेश ने सोचा, "पर भाव-हीन भी कैसी हैं।"

"मेरा मतलब था कि आध्यात्मिक आघात न लगे।"

"नही मै जो किताबे पढनी हूँ, मुझे उनसे बहुत शान्ति मिलती है।"

"तुम्हे शान्ति की आवश्यकता है ?"

"हम सब शान्ति चाहते हैं।"

केशी का गम्भीर स्वर सयत और सगीतमय था। सर्वेश को सुनने में आनन्द आ रहा था। उसे लग रहा था कि वह ऐसी स्त्री के सम्मुख आ गया है, जिसे वह पहले से जानता था और जिसके अब हर शब्द, हर हाव-भाव मे वह डूबता जा रहा था। केशी की उदासीनता अब जाती रही और वह स्वच्छन्दता के साथ उमसे बाते कर रही थी। वह उसकी ओर देख भी लेती थी, मुस्करा भी देनी थी। उन दोनो के बीच में पहले क्या था, अब क्या हो गया।

"जब कोई पुस्तक मुझे भाती है" वह बोली : 'तो लेखक को जानने को उत्कण्ठा होती है। मैं जानना चाहनी हूँ कि वह अच्छा है या अच्छी है और क्या उमने भी दु:ख झेले हैं, उसने भी प्रेम किया है—"

"शायद कुछ दिन मे तुम्हारा भ्रम दूर हो जायगा। लेखक हमेशा दूसरों की प्रेम-कहानी कहते हैं, अपनी कभी नही।"

"आत्म-प्रतिष्ठा के कारण ?"

"नहीं मैं समझती हूँ, शायद ईर्ष्या के कारण। ऐसे-ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ केवल प्रेम ही हृदय के कोष का एकमात्र बहुमूल्य रत्न हो।"

अन्तिम शब्दों को कहते समय केशी का स्वर वैसा ही गम्भीर रहा और चेहरे पर भी वही निष्कपटता का भाव। उसकी आवाज़ और कहने का ढंग इतना सरल और पवित्र था कि सर्वेश को कुछ भी आश्चर्य नहीं हो रहा था। सब बहुत ही स्वाभाविक और पहले से निर्धारित लगता था। यह सन्ध्या भी, इस अपरिचित युवती के साथ बिताना, उसे ऐसी लग रही थी, जैसे वह बहुत दिनों से प्रतीक्षा करता आया हो। जब वे विदा होने के लिए उठे तो एक दूसरे को बहुत देर तक देखते रहे और केशी ने पहले नमस्कार किया अनबोले ही और सर्वेश के प्रति नमस्कार! दरवाज़े का भारी पर्दा गिर कर उनके बीच में आ गया। दोनों अलग-अलग हो गए।

केशी की निकटता और बातचीत का मोहक-प्रभाव जब कम हुआ तो सर्वेश बड़ा हड़बड़ाया हुआ था, पर उसे जीवन बड़ा भव्य, मृदु और सुखद लग रहा था। उसकी समझ में नहीं आता था कि वह अब पुष्पी के लिए क्या कुछ सोचे ?

और केशी...? वह बहुत हल्की थी, उदासीनता दूर हो गई थी। उसकी साँसों मे सुनहले सपने भर रहे थे।

समय निकलता गया, सर्वेश पुष्पी को भूलता गया। केशी और सर्वेश के सम्बन्ध गहरे होते गए।

× × ×

केशी की छोटी बहन बसन्त कितनी चचल थी। पर अब वह संजादगी से गौर करने वाली बनती जा रही थी। वह अक्सर अपनी बड़ी बहन को समझने की चेष्टा किया करती, और उसका अध्ययन करती या सर्वेश के कहे प्रत्येक शब्द को बड़े ध्यान से सुनती और सोचती रहती। अद्‌भुत-अद्‌भुत घटनाएँ प्रतिदिन सामने आती। सर्वेश पहले जैसा सरल और हा-हा-ही-ही करने वाला नहीं रहा; अपितु विचारशील,

पीला, घबराया हुआ सा उद्विग्न रहता। वह बहुत कम बोलने लगा था। उसके हृदय की आग और तूफान की झलक उसकी आँखों मे साफ़ नज़र आती।

अब केशी भी तो बहुत बदल गई थी—बस हमेशा घबराई हुई बेचैन। कभी छोटी बहन का स्नेह के आवेग में प्रगाढ़ आलिंगन करती और कभी घण्टों उससे बिना मिले, अलग बैठी रहती। उसकी आँखों में अब सपने जला करते। गालों पर मुर्खी हवा से भगाए बादलों की तरह आती-जाती रहती, बदन गरम रहता, साँसे गरम चलतीं; उसकी आवाज़ अब और गम्भीर तथा आवेश से भरी होती थी—कभी रूखी, कभी कोमल, मधुर, धीमी, उसके हाथ सिहरते से लगते थे। रात को नीद नहीं आती थी। बसंत अक्सर नंगे पाँव उठ कर आधी रात को उसके दरवाज़े पर जाकर सुनती। केशी रात-रात को करवटें बदलती और सिसकती रहती।

अब केशी और सर्वेश रोज़ ही मिलते, दोनों का अपनी पुरानी दशा से परिवर्तन और भी गहरा दीखने लगा था। बातें बहुत कम होती थीं। उत्तर फौरन से दे दिए जाते या उड़ते हुए से मिलते। कभी-कभी सारी शाम तक वे एक भी बात न कर पाते, पर एक दूसरे की हरकतों का वाक्यों का, बड़े ध्यान से अध्ययन करते। और केशी पीली पड़ती जाती थी, आँखों के नीचे गड्ढे पड़ रहे थे। अब उसने निश्चय किया कि वह बाहर निकलना बन्द कर देगी। वह अपने कमरे मे उत्सुकता, व्यग्रता और अधैर्य से विकल हो; काँपती हुई, अपनी हृदय की वेदना को रोकने की चेष्टा करती बन्द पड़ी रहती।

एक दिन शाम को बसन्त उसके कमरे मे आई और विनय करने लगी—"जीजी मेरा एक कहना कर दोगी ?"

"क्या चाहती हो ?"

"मुझे एक छोटा-सा सवाल मालूम करना है।" बसन्त ने कहा—"सर्वेश अकेला बैठा है। वहाँ छत पर है—जरा उससे पूछ आओ।"

"किन्तु मैं—"

"क्या मेरा ज़रा-सा काम करने में तुम्हारा बहुत सा हर्ज हो जाता है?"

"सवाल क्या है ? छोटा-सा है न!"

"हाँ कुल दो मिनट का।"

तब केशी सारा साहस समेटती हुई छत पर चली। दहलीज पर जाकर वह ठिठक गई। सर्वेश इधर-उधर चहलक़दमी कर रहा था। आखिर वह छत पर उसके पास पहुँच गई।

"बसन्त ने मुझे भेजा है।" उसने धीमे से कहा।

और उसका सारा शरीर काँप रहा था। सर्वेश उसके सामने खड़ा था। भावों के आवेग से उसका चेहरा तमतमा रहा था।

"मैंने तुम्हें क्या कर दिया है केशी ?"

"कुछ नही, तुमने कुछ भी नहीं किया है—बस मेरी ओर ऐसे मत देखो।" वह भयभीत होकर याचना कर रही थी।

"जानती हो, केशी मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ।"

"यह मूर्खता है।"

"पर मैं तुमसे ही प्यार करता हूँ। मैं चला जाऊँगा—"

"क्यों जी ?" बसन्त ने दूर से पूछा। वह दूसरे दरवाज़े पर खड़ी हो गई थी—"क्यों तुम दोनों ने कुछ सुलह की, या नहीं ?"

वे निरुत्तर हो गए। केशी ने हाथों से मुँह छिपा लिया और भागी। सर्वेश निश्चल खड़ा रहा, मानो काठ मार गया हो।

"जीजी" बसन्त चिल्लाई!

"बसन्त!"

× × ×

बसन्त ने माँ से कुछ खुसर-पुसर की। कहा—"जानती हो, माँ जीजी कैसे गर्म और रूखे स्वभाव की हैं। पर, अब वे सिसकती दुबकती रहती हैं। पहले विवाह शादी, उत्सव, ऐसी-वैसी सभी चीज़ों से उन्हें सख्त चिढ़ थी। कितने कुण्ठित स्वभाव की रही हैं वे, कि सभी के लिए चिन्ता का विषय थीं, और अब तो जैसे उन पर जादू ही हो गया है। माँ, सब 'हाँ' कर दो और सब बिल्कुल ठीक-ठीक है।"

माँ कुछ बोली नहीं, चुप ही रहीं।

"माँ, बोलो न ! जीजी को तुम कितना जानती हो। वे कैसी हठी हैं और अब इसके सिवा कुछ सोचा भी नहीं जा सकता है माँ कि उनकी इच्छानुसार ही सब कुछ किया जाए।"

"बसन्त तू निरी बच्ची है, कैसी भोली है। सर्वेश दरिद्र है, देहाती है और हमारा वंश कितना ऊँचा है।"

"मानो माँ, मैं ठीक कहती हूँ। इस कृत्रिम अहं को छोड़ दो माँ ......नहीं तो जीजी——केशी......उफ़ .....जीवित नहीं पाओगी। बेचारी जीजी, उनका क्या अपराध है माँ ?"

"अच्छा जा, मुझ पर विश्वास रख—मैं माँ हूँ; किन्तु तेरे पिता ? वे क्या मानेंगे ! ख़ैर जा, सो।"

बसन्त वहाँ से केशी के कमरे की ओर आई। दरवाज़ा बन्द था। बाहर हल्की सिसकियाँ सुनाई पड़ रही थीं।

वह कुछ ठिठकी, दरारों में से झाँक कर देखा—जीजी औंधे मुँह पड़ी हैं, आँखें तर हैं, कैसी दयनीय अवस्था हो गई है बेचारी की ! बसन्त शिथिल-बोझिल डगों से आगे बढ़ गई।

और सर्वेश—

उसने कितना-कितना साहस बटोर कर केशी के पिता से कुछ कहना

चाहा। ज़बान लड़खड़ा गई। बहुत मुश्किल से कह सका—"मै......मैं केशी को चाहता......"

वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया कि केशी का पिता वृद्धसिंह की तरह गरज उठा—"नीच, कुत्ता......निकल जा यहाँ से अभी !"

दुर्भाग्य सर्वेश ! उसका रोम-रोम मर्माहत हो उठा, चीत्कार उठा।

× × ×

अमावस्या कितनी काली, कैसी सूनी होती है कि उसके अवगुण्ठनों में सब कुछ सिमट जाता है। पर दिवाली की अमावस्या की कालिमा में मानवीय भावना की कैसी शुभ्र आभा मुखर हो उठती है कि सृष्टि की सौन्दर्य कोटि-कोटि दीपों में झलमल-झलमल कर उठता है।

सर्वेश पुष्पी के आंगन में खड़ा है। दीप जगमगा रहे हैं—दीवालों पर, इधर-उधर, चारों ओर—लौ, प्रकाश, एक स्नेह, एक शुभ्रता तन्मय हो, मुखरित है। दीपों का एक थाल सँजो कर पुष्पी आँगन में निकली कि सामने सर्वेश है।

"पुष्पी, पुष्पी......मैं.....मैं आ गया; क्षमा करो, क्षमा क......रो।"

और पुष्पी के हाथ का थाल भूमि पर गिर पड़ा है—दीप तेल, बाती सब यत्र-तत्र बिखर पड़े।

पुष्पी झुकी भूमि की ओर, और सर्वेश गुम-सुम खड़ा ही रह गया।

....ग से गधा और घ से घर

आज हिमू के विवाह को एक वर्ष हो गया था और उसकी पत्नी सुमन की गोद में दो दिन का बालक भी आ गया था। सुमन पहले-पहल लड़के की माँ बनकर फूली नहीं समा रही थी। हिमू भी मन ही मन बड़ा प्रसन्न था परन्तु वह...अपनी प्रसन्नता प्रकट नही कर पा रहा था...जिसका कारण था, घर वालों का रुख। हिमू की माँ को, जिन्हें सब काकी कहते थे, अपने पहले पुत्र के विवाह की वर्ष गाँठ एवं पहली बार दादी बनने की तनिक भी प्रसन्नता न थी। वह...चुपचाप अपने कमरे मे बैठी ध्यान लगाये माला फेर रही थी। अब काकी के लिये भगवान के सिवाय और था ही कौन? जिस 'घर' की परिभाषा वह अपने बच्चों को बचपन से सिखाती चली आ रही थी वही घर आज उसके बुढ़ापे में उसकी इच्छाओं के बिल्कुल विपरीत दृष्टिगोचर हो रहा था। वह मन ही मन बड़ी दुःखी थी और दिन-रात "मुरली वाले" के चरणों को पकड़ कर अपने घर की रक्षा के लिये प्रार्थना कर रही थी।

काकी अपने विवाह के बाद एक मध्यम वर्ग के सम्पन्न घर की अधिकारिणी थी। उनके पति उसे कभी भी पैसों से दुःखी नहीं रखते

थे। उनके चार संतानें थीं, दो लड़के और दो लड़कियाँ। सबसे बड़े पुत्र का नाम हिमांशु था; परन्तु कहलाता वह हिमू था। काकी ने अपने सारे बच्चों की पढ़ाई घर में ही आरम्भ करायी थी। वर्णमाला और पचास तक की गिनती प्रत्येक बालक को पाँच वर्ष के भीतर ही भीतर पूरी करा दिया करती थी। आज हिमू के ब्याह की वर्ष-गाँठ के दिन काकी को उसका बाल रूप साफ याद आ रहा था। वह उसकी गोद में बैठा "क से कबूतर, ख से खरगोश, ग से गधा और घ से घर" आदि नोतली बोली में सीख रहा है। काकी समझाती जाती "हिमू खिड़की पर बैठे हुए कबूतर को देखो ? 'क' से यही कबूतर होता है। फिर खरगोश का खिलौना दिखाकर 'ख' को समझाती। मिट्टी वाले की याद दिलाकर उसके गधे की सहायता से 'ग' का अक्षर पहचनवाती। वह पीली मिट्टी बेचने वाला जो आता है न, सुबह-सुबह, उसके साथ दो गधे भी तो आते हैं। वह कभी-कभी कैसा हाँचू-हाँचू करते है। और मिट्टी वाले के डंडे की मार भी खाते है। 'ग' से वही गधा बनता है। और 'घ' से देखो न, 'घ' से हमारा यह अपना घर बनता है। इस घर में तुम्हारे बाबू जी और तुम सब बहन भाई रहते हो। हम सब हँसते है, खेलते हैं, पढ़ते हैं, खाते हैं और सो जाते है। जिस घर से हँसने, खेलने और पढ़ने की ध्वनि सुनाई देती रहे वही घर है...यह घर 'घ' से बनता है। समझ गए न ?"

काकी बार-बार गधा एवं घर में अन्तर दिखाया करती थी। गधा जानवर होता है परन्तु जो अपने घर में कलह और दुःख संजोता है वह भी गधा ही होता है। घर में तो केवल आनन्द और प्रसन्नता ही रहती है वह किसी प्रकार से अपने घर को अपनी चाची के घर के समान नहीं बनाना चाहती थी। जब काकी के सिर से उसके माता-पिता की छत्र-छाया उठ गई थी तभी वह चाची की छत्रछाया मैं आ गई थी। कहाँ माँ

का शान्त घर और कहाँ चाची का कलहपूर्ण घर ? काकी अपने बचपन से ही अच्छे और बुरे घर को पहचान गई थी । इसीलिए वह अपना और अपने बच्चों का घर उत्तमोत्तम बनाने के प्रयत्न में लगी हुई थी ।

काकी अपना सारा प्यार अपने बच्चों पर लुटाया करती जिसका सबसे बड़ा भाग हिमू को मिलता था, एक तो लड़का होने के कारण और दूसरे पहली सन्तान होने के कारण । काकी अपने बच्चों का खाना-पीना, कपड़े सीना आदि सब अपने हाथों करती थी । कोई बीमार हो जाय तो दिन-रात सेवा करते-करते नही थकती थी । वह परिश्रम करके चूर हो जाती थी, नीद की कमी के कारण आखें फटी जाती थीं फिर भी वह अपने बीमार बच्चे को नहीं छोड़ पाती थी। इस प्रकार की सेवाओं का अधिक भाव हिमू को ही मिला । क्योंकि बचपन से हिमू संसार की सारी बीमारियों का स्वाद चख चुका था। शहर में जो बीमारी एक वर्ष बाद फैलने वाली होती वह हिमू एक वर्ष पहले ही भुगत बैठता । तीन बार टायफाइड, चार बार निमोनियाँ और पता नहीं कितनी बार मलेरिया आदि बीमारियों में हिमू की सेवा करते-करते हिमू, काकी का प्राण-प्रतीक बन गया था । चौबीसों घन्टे "उसकी आँखें" हिमू पर ही गडी रहती थीं । हिमू हँसता तो वह मुस्कराती, हिमू रोता तो वह उदास हो जाती और हिमू खेलता तो वह उसकी बातों पर, उसकी बाल-क्रीड़ा पर बारी-बारी जाती थी । हिमू की छोटी-छोटी बातों पर काकी बेचारी लट्टू हुई जाती थी ।

बचपन से इस प्रकार के संपर्क के कारण काकी और हिमू एक प्राण दो शरीर बन गये थे । स्कूल के दिन तो इसी प्रकार के लाड़-प्यार में कट गये परन्तु जब वह कालेज पहुँच गया तब भी बिना काकी की गोद में सिर रक्खे वह सो नहीं पाता था । जब तक काकी खाना न परसे उसे अच्छा नहीं लगता । कालेज में भी वह काकी के हाथ के

सिले कमीज़ एवं पजामा पहना करता था। घर में जब भी कभी मिठाई आ जाती तो हिमू को दोहरा...अपना और काकी का...हिस्सा खाने को मिलता था, क्योंकि काकी अपना हिस्सा लेने के बाद कोई न कोई बहाना करके उसे हिमू को खिला दिया करती। कालेज में जो भी कुछ सिखाया जाता था हिमू खाना खाते समय काकी को अवश्य समझाता। जब कभी काकी बीमार हो जाती तो हिमू काकी के सिरहाने से उठाए न उठता। काकी की प्रत्येक कराह पर उसके प्राण मसोस-मसोस कर रह जाते।

काकी को हिमू से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं...वह पढ़-लिख जायेगा, पिता का कारोबार सम्हालेगा, अपना मकान बनवायेगा, उसका विवाह होगा चाँद सी बहू लायेगा आदि-आदि। वह जब भी सुनती कि अमुक लड़के ने अपनी बूढ़ी माँ को घर से निकाल दिया या उस युवक ने अपनी माँ को खाने...कपड़े से दुःखी रखा अथवा किसी लड़के के कारण उसके माँ के आँसू नहीं रुकते तो वह मन-ही-मन कहती, जो भी हो, हिमू यह सब मेरे साथ नही कर सकता। वह मुझे बुढ़ापे मे बड़ा सुख देगा।

इसी प्रकार के विचारों में हिमू की पढाई पूरी हो गई और वह अपने पिता के साथ व्यापार में हाथ बँटाने लगा। जब से हिमू ने व्यापार का काम सम्हाला उसके पिता जी को बड़ा आराम हो गया। वह दोपहर के समय सोने लगे, शाम को ही दूकान से उठकर घर आ जाते। काकी से वह हिमू की बड़ी-बड़ी प्रशसा करते। काकी हिमू की प्रशसा सुनकर फूली न समाती। माथा आसमान मे चढ़ जाता, छाती चौड़ी हो जाती और वह बड़े गर्व से कहती है, मेरा बेटा जो ठहरा। इस वाक्य को लेकर कभी पति-पत्नी में चोंचें भी चल जातीं। हिमू अपने माता-पिता से आदर पाने के साथ-साथ अपने छोटे बहन-भाई पर

भी बड़ा स्नेह रखता था। इस प्रकार वह काकी के कुटुम्ब में घर की परिभाषा को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर रहा था। उसके विचार से उस के घर में कोई गधा नहीं था।

हिमू की चाल-ढाल देखकर हिमू के पिता ने हिमू के नाम से एक सुन्दर सा घर बनवा दिया। दूकान आदि भी हिमू के नाम कर दी। उसके विवाह की भी चर्चा चलने लगी परन्तु इसके लिए वह राजी न हुआ उससे साफ कह दिया कि जब तक उसकी छोटी बहन रमा का विवाह न हो जायेगा वह अपना विवाह न करेगा। अस्तु रमा के लिए वर और भी जल्दी खोजा जाने लगा। साल के अन्दर ही अन्दर रमा का विवाह एक सम्पन्न घर के लड़के के साथ कर दिया गया। उस विवाह के इन्तज़ाम को देख हिमू के मोहल्ले वाले, हिमू की योग्यता की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे।

धीरे-धीरे हिमू उस मोहल्ले में एक सुपुत्र का प्रतीक बन गया। सब ही अपने पुत्र को हिमू की भाँति बनाना चाहते। हिमू के सद्गुणों की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल जाने से हिमू के लिए अच्छे से अच्छे घरों की लड़कियों के साथ विवाह के प्रस्ताव आने लगे। परन्तु हिमू ने इस ओर कोई अनुचित उत्सुकता न दिखाई और बहू का चुनाव काकी पर ही छोड़ दिया। काकी बेचारी घर-घर जाती और लड़कियाँ देख कर लौट आती। उन्हे अपने हिमू के लायक कोई दिखाई ही न देती।

दो साल की ढूँढ-खोज और छान-बीन के बाद हिमू के पिता ने अन्त में विवाह एक जगह तय कर ही दिया। वह अत्यन्त प्रसन्न थे। बेटे का ब्याह होगा। मन चाही सुन्दर बहू रुनुक-झुनुक करती घर आएगी !!! हिमू की माँ को अब सुख मिलेगा। बहू घर का काम-काज सँभालेगी...दौड़-दौड़ कर काम करेगी। उन्होंने चट-पट सगुन की तैयारी की और शुभ मुहूर्त में सगुन ले भी लिया। परन्तु जिस शुभ दिन

को देखने के लिये वह इतने दिनों से आतुर थे वह देखना उन्हें नहीं बदा था। सगुन के दस ही दिन बाद वह अपने सुख...स्वप्न आँखों में लिए अचानक चल बसे। विवाह साल भर के लिए टल गया।

परन्तु किसी के आने या जाने से इस संसार का कोई काम रुकता नहीं। समय अपने गति के साथ-साथ प्रिय जनों की मधुर और विरोधियों की कड़वी स्मृतियों को फीका कर देता है। इन्हीं फीकी स्मृतियों को हृदय में संजोये मनुष्य मशीन के एक पुरज़े की भाँति काम करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है, चाहे ठीक अथवा गलत दिशा में। इसी क्रम के अनुसार समय आने पर हिमू का विवाह होना भी अवश्यंभावी था। शुभ दिन और मुहूर्त देखकर हिमू का विवाह-संस्कार पूरा हुआ। इस विवाह में काकी को यदि एक ओर अपने पति के अभाव का दुःख था तो दूसरी ओर अपनी वर्षों की कामना की पूर्ति होने की प्रसन्नता भी थी। उस ने अपनी कोई भी इच्छा अधूरी न रखी। विवाह के तीन दिन पहले ही दर्वाज़े पर शहनाई वालों को बिठा दिया, सत्यनारायण की कथा कहलाई, घर-घर से औरतों, बच्चों को बुला कर कीर्तन कराया, गरीबों को खाना बाँटा और अनिष्टों के निवारण के लिये पाठ बिठाया। काकी की सहेलियाँ और मुहल्ले की स्त्रियाँ बधाई देने आईं तो काकी की आँखों में खुशी के आँसू छलछला पड़े। वह हाथ जोड़ कर कहती, भगवान् ने मेरे हिमू को इस लायक बना दिया कि वह घोड़ी पर चढ़ कर बरात ले जाय और चाँद सी बहू को ब्याह लाये। काकी की आँखों में आँसू देख कर उस की सहेलियों की आँखों में भी आँसू झलक पड़े थे ...और काकी के भाग्य की सराहना करते-करते किसी का मुँह न थकता। चौबीसों घन्टे काकी के घर में शहनाई, ढोलक, स्त्री बच्चों की ही...ही...हा...हा की ही ध्वनियाँ सुनाई पड़तीं। आनन्द और प्रसन्नता की देवी मानो काकी के चौखट पर लुट-लुटी पड़ती थी जो कोई भी काकी के घर आता उसी के अंग-प्रत्यंग

से प्रसन्नता फूट पड़ती। इसी वातावरण में हिमू को उपटन लगा, कंगन बँधा, नेगाचार हुए सेहरा बँधा और फिर हिमू की घुड़-चढ़ी जिस धूमधाम से हुई उस का क्या कहना ? विवाह के समय लड़की लड़के पर सौन्दर्य और कमनीयता यों ही आ जाती है और फिर हिमू तो हिमू ठहरा ! सफेद चमकती हुई शेरवानी, साफा और उस पर छोटा सा मुकुट पहिने और सेहरा बाँधे वह बहुत ही प्यारा लग रहा था। काकी की सहेलियों ने कई बार हिमू पर से नज़रें उतारीं।

इधर यह हो रहा था और उधर हिमू के मित्र उसे बधाई देते नहीं थकते थे। दावत हो रही थी। इष्ट-मित्र, सगे संबंधी, नातेदार और रिश्तेदार बरात के लिये सजे खड़े थे। बैंड वाले अपने करिश्मे दिखाने में पीछे नहीं हट रहे थे। इसी हुल्लड़ के बीच मोहल्ले की सारी अविवाहित लड़कियों की टोली रमा के साथ घोड़ी के पास जा कर खड़ी हो गईं। जैसे ही हिमू ने घोड़ी पर चढ़ने के लिये पैर उठाया कि सारी लड़कियों ने घोड़ी को रोक लिया। काकी ने जब उन सब लड़कियों को साड़ी चोली बाँटी तब कहीं हिमू घोड़े पर चढ़ पाया और बरात झमक कर आगे बढ़ी। काकी अपनी सहेलियों के साथ बरात का प्रस्थान देख रही थी। प्रसन्नता के आँसू उनके रोके नहीं रुकते थे। एक ओर यह खुशी और साथ ही साथ पति की याद। वह हृदय के आवेश को न रोक सकी और फफक कर बोली, "हिमू के पिता यह दिन देखने के लिये तरस-तरस के रह गये। कितनी आशा से उन्होंने उस दिन सगुन दिया था ? आज के लिये भगवान् ने उन्हें नहीं छोड़ा।" उस की सहेलियों ने उसे समझाया कि जहाँ भी वह होंगे उनकी आत्मा को आज शान्ति मिली होगी या क्या पता बरात के साथ ही साथ वह जा रहे हों... उनका हिमू पर बड़ा प्यर था न।

एक ओर इस प्रकार की बातें चल रही थीं तो दूसरे और हिमू की शानदार बरात आगे बढ़ रही थी। जिन-जिन सड़कों से हिमू की बरात

निकलती वहाँ के सब निवासी सड़कों, छज्जों, छतों पर खड़े होकर बरात को देखते और प्रसन्न होते। हिमू की ससुराल वालों ने बड़ी धूमधाम के साथ विवाह पूरा किया। और क्यों न करते ? उन की तो एक मात्र लड़की थी। हिमू क सास-ससुर ने अपने अरमानों को कार्यरूप में परिणित कर दिया था। अगले दिन हिमू बहू के साथ गाजे-बाजे के साथ घर लौट आया।

काकी के घर में बहू को देखने के लिये भीड़ लगी हुई थी। हलवाई चार-पाँच सौ महमानों के लिये खाना पकाने में व्यस्त थे। देखते ही देखते हिमू अपने मोहल्ले में पहुँचा, मोहल्ले वालों ने फूल बरसाये, पैसे न्यौछावर किये। बच्चों का शोर और बंड की तुमल ध्वनि आकाश तक छा गई। आनन्द की देवी मानो दिवानी हुई जा रही थी। मोहल्ले में इस प्रकार का वातावरण आज से पहिले किसी ने भी न देखा था। ऐसा बोध होता मानो सब अपने को भूल गए हैं। दरवाजे पर पहुँच कर हिमू और बहू को कार से उतारा गया। बहू ने घर मे प्रवेश किया। नवविवाहित दम्पति ने आकर काकी के पैर छुए। काकी ने सजल चक्षु हो मुक्त कंठ से उन्हें आशीष दिए। जब काकी बहू का घूँघट उठाने लगी तब काकी की सहेलियो ने उसे रोक कर उसकी पुरानी कसम याद दिलाई और कहा "बहू घर आ गई है। पहले नाच कर अपना वादा पूरा करो और फिर ग्यारह बार बहू पर पैसे न्यौछावर करो। इसके पहिले तुम बहू का मुखड़ा न देख सकोगी।" काकी बेचारी विवशता से हँस कर नाचने लगी, बीच-बीच मे वह रुक कर बहू पर पैसे न्योछावर करती। सभी हँसने लगे। काकी ने फिर बहू का मुँह देखा, मुँह दिखाई का नेग दिया। सब काकी को बधाई देने लगे। घटे दो घटे तक एक ओर मुँह दिखाई चल रही थी तो दूसरी ओर ढोलक पर गाने गाये जा रहे थे। फिर खाना शुरू हुआ। खाना खा-खा कर भीड़ छटने लगी। इस प्रकार हिमू के विवाह का पहला दिन कट गया।

ग से गधा और घ से घर

हिमू की बहू सुमन बचपन से बड़े लाड़ में पली थी। उस लाड़ ने उसकी आदतों और विचारों को दूषित कर दिया था। उस में इकलौती बेटी के सारे अवगुण थे। वह सदा यह चाहती कि घर में जो भी कुछ आये वह उसी के लिए हो, घर मे सब उसकी ही बड़ाई करते रहें, जब तक वह न खाये; कोई न खाय। वह चाहती थी कि अधिक से अधिक पैसा उस पर खर्च किया जाय। कही सौ-सौ रुपयों के लड्डू मिलते हों तो वह उसे ही खाकर जीना चाहती थी। जब भी देखो तभी वह रूठ-रूठ कर अपने पति को काम पर जाने से रोकती। उसे साथ लेकर इधर-उधर घूमने जाती और वह भी बिना माँ की आज्ञा लिये।

बहू की यह रगत देख कर कुछ दिन तो काकी चुप रही परन्तु पंद्रह-बीस दिन बाद उसे यह सब खलने लगा। दिन कटने लगे। हिमू को बहू मे लिप्त देखकर काकी ने अपने दूसरे बेटे सुधी को पढ़ाई बन्द करवा कर दूकान पर बैठा दिया। यह सब होता देख हिमू मन ही मन प्रसन्न हुआ। वह अब घटा दो घटा सुवह को और घटा दो घटा शाम को दूकान जाकर हिसाब किताब देख लेता। पैसा अपने हाथो मे रखता और फिर दिन भर घर से गायब। बेचारा सुधी एकदम कालेज छोडकर दूकान मे बैठने के कारण खिन्न था...दूकान मे उसका मन नही लगता था। परन्तु काकी की बात रखने के लिये चुप था। दूसरी ओर हिमू की लापर-वाही के कारण उसे सुवह के नौ बजे से रात के नौ बजे तक काम करना पड़ता। हिमू सुमन और सुमन के कुटुम्ब मे ऐसा खो गया था कि उसे अपने भाई, बहन, माँ सब बुरे लगने लगे। किसी मे सीधे मुँह नही बोलता था। घर की छोटी-छोटी बातों पर खीज उठता। यह देख कर छोटा भाई, बहन सब उससे दूर-दूर रहते और काकी भी चुप रहने लगी। पास पड़ोस वाले सब आश्चर्य करने लगे कि हिमू इतनी जल्दी कैसे बदल गया? परन्तु उन को यह नहीं मालूम था कि सुमन के घर वालों की

बेइन्तिहा खुशामदों ने उस के दिमाग को फुला दिया था। उतनी खुशामद माँ तो कर नहीं सकती थी...वह माँ जिसने बचपन में न जाने कितनी बार उसे मारा धमकाया हो। वह पुत्र के बड़े होने पर उसके पैरों पर दिखावे के फूल कभी नहीं चढ़ा सकती। हाँ आवश्यकता पड़ने पर अपने हृदय का सारा खून दे सकती है...दिन-रात एक कर के सेवा कर सकती है, अनिष्ट निवारण के लिए ठाकुर जी के सामने जप-तप और काष्ठा कर सकती है गिड़गिड़ा सकती है, रो सकती है। यह बात हिमू को अपने यौवन की आँधी में सूझ नहीं सकती थी। अतः घर में खाई पड़ी और बढ़ने लगी। देखते ही देखते ही दो महीने बीत गये।

एक दिन जब रात का खाना खाने के बाद सब बैठक में बैठे रेडियो सुन रहे थे, काकी बोल उठी, "अरे हिमू, अप्रैल का महीना आ गया सब के लिये कपड़े सिलवाने हैं।" हिमू ने बड़े रूखेपन में जवाब दिया, "कल सुवह पैसे लेकर जो चाहो खरीद लाना।" काकी चुप हो गयी। इस चुप्पी को देख कर सुमन बोली, "ज्यादा पैसे खर्च न कीजिये। कट-पीस खरीद लाना, उन्हीं को जोड़ कर आपके घर में पहनने की धोतियाँ भी बन जायेंगी।" काकी के मन में आग लग गयी; बोली "बहू, अभी मेरे ऐसे दिन नहीं आये हैं। जब आ जायेंगे तब कट-पीस की शरण लूँगी।" बात बढ़ती देख हिमू ने सुमन को चुप रहने को कहा और काकी को तीन सौ के नोट पकड़ा कर कहने लगा "अगर कम पड़े तो कल शाम को और ले लेना।" यह कहकर वह अपने कमरे की ओर चल पड़ा। पीछे-पीछे सुमन भी चली गई। इस छोटी सी परन्तु गंभीर घटना से काकी का रोम-रोम हाहाकार कर उठा। अगली-पिछली बातें याद कर के वह अपने कमरे में जा कर बिलख-बिलख कर रोने लगी।

इस घटना के बाद घर में लोग एक दूसरे से बहुत कम बोलते। सब सदा अपने-अपने विचारों में डूबे रहते। काकी की आँखों में आँसू देख

कर सुधी मन ही मन तड़प जाता। परन्तु कुछ कर नहीं पाता। भाभी की रंगत देखकर उसने एक दिन ज़िद पकड़ ली कि वह अपनी सगाई तोड़ देगा और जीवन भर विवाह नहीं करेगा। काकी ने बहुत समझाया परन्तु वह न माना। काकी ने रमा को ससुराल से बुला भेजा। रमा ने भी आकर बहुत-बहुत समझाया परन्तु वह मानता कैसे...उसे तो 'बहू' नाम की नारी से घोर घृणा हो गयी थी। हार कर सगाई तोड़नी पड़ी। सुधी की ससुराल वालों को बहुत बुरा लगा। लड़की का तो वही हाल हुआ जैसे कोई साँप डस गया हो। परन्तु लड़की वालों की स्थिति ही ऐसी होती है कि वह चुप रहने के सिवाय कुछ कर नही सकते।

रमा कुछ दिन रहकर काकी को जितना समझा सकी समझा कर ससुराल चली गई। वह चाहती थी कि अपनी छोटी बहन क्षमा को अपने साथ ले जाय परन्तु भाभी बीच में पड़ गई और उसे न जाने दिया। क्षमा को बहुत बुरा लगा। पिता की याद करके बहुत रोई। परन्तु करती क्या? अपने भाग्य को कोस कर चुप हो गई। काकी भी रसोई में बैठी चुपचाप खाना पकाती जा रही थी और रोती जा रही थी। आज अगर उस पर दो छोटे बच्चों की जिम्मेवारी न होती तो वह घर छोड़ कर निश्चय ही किसी आश्रम मे चली जाती।

घर मे बहुत तनाव देखकर सुमन ने काश्मीर जाने की ज़िद की। हिमू ज़िद की लपेट मे आकर उसे काश्मीर ले गया। गये पन्द्रह दिन के लिये थे परन्तु महीने भर बाद लौटे। वापसी पर सब को खुश करने के लिये अपने साथ छोटी-छोटी चीज़ें लेते आये। काकी के लिये सफेद टैबी साड़ी, रमा के लिये रंगीन साड़ी, क्षमा के लिये एक दुपट्टा, सुधी के लिये कश्मीरी जैकेट और अपने एवं सुमन के लिये प्रायः हजार रुपये का सामान। यह सब देख कर काकी ने कहा, "इतने पैसे क्यो खर्च किए तुम लोगों ने?" हिमू बोला, "जो चीजें तुम लोगों के लिये लाया हूँ वह तो मैंने खरीदी

हैं, परन्तु बाकी चीज़े सुमन लाई है—अपने पैसो से।" यह सुनकर काकी सब समझ बूझ कर चुप हो गई। उसे हिमू का यह झूठ बोलना बहुत बुरा लगा। काकी का बदला हुआ रुख देख कर घर मे फिर वही पुरानी चुप्पी छा गई। इसी प्रकार की चुप्पी मे दिन कटे जा रहे थे। घर मे सब के मन मे तूफान के समान विचार उठते और बैठते थे। परन्तु ऊपर से देखन मे सब चुप थे। जब कभी कोई चुप्पी तोडने का प्रयत्न भी करता तो कुछ अर्जाब सा लगता। जहाँ सदा हँसी की खिल-खिल के बिना एक पल भी नही कटता था वहाँ अब लोग जैसे हँसना भूल गये थे।

एक दिन सुबह से शाम तक इधर-उधर घूमने के बाद सुमन घर आई। हिमू हिसाब लेने दूकान चला गया। सुमन आराम करने के लिए लेट गई क्योकि उसे फिर तैयार होकर क्लब जाना था। वही लेटे लेटे उस ने क्षमा को आवाज़ लगाई। क्षमा दौडी चली आई। क्षमा को देखते ही सुमन बोली, "मैं बहुत थकी हूँ। ...जरा मेरे पैर दबा दे।" यह सुनकर क्षमा को जैसे काठ मार गया हो। सुमन कभी ऐसी भी आज्ञा दे सकती है, उसकी उसे स्वप्न मे भी आशा न थी। वह एक क्षण तो चुप खड़ी रही फिर बोली, "मै किसी के पैर नही दबाती।" उत्तर सुनकर सुमन की देह मे जैसे आग लग गई—बोली, "क्षमा, कान खोल कर सुन ल; जब तक मै तुम लोगो को इस घर मे रहने दूँगी तभी तक तुम यहाँ रह सकती हो जितना मै तेरी शादी मे देना चाहूँगी उतना ही तुझे मिलेगा। मुझ से दुश्मनी करने मे तेरा कोई फायदा नही। समझ लिया? जा अब टल मेरे आगे से।"

यह घटना क्षमा ने काकी को बताई। सुनकर काकी की जो दशा हुई होगी उसका अनुमान लगाना कुछ कठिन नही है। उसे अपना और और क्षमा एव सुधी का भविष्य अन्धकारमय लगने लगा। पति की सब संपत्ति हिमू के नाम कर जाना अब उसे खलने लगा। दोनों खूब रोईं

...रो-रो कर काकी पूजा करने चली गई। सुधी जब घर आया तो क्षमा ने उसे भी वह घटना सुनाई। सुधी सब कुछ सुनकर चुपचाप अपने कमरे में चला गया। उस शाम को तीनों ने खाना नहीं खाया। तीनों के हृदय से एक हाहाकार उठ रहा था। सुधी की तो इच्छा हुई कि वह घर से भाग ही जाय। परन्तु काकी और क्षमा के प्रति कर्तव्य भावना ने उसे रोक रखा। परन्तु हिमू और सुमन। वे क्लब जाकर वहाँ के राग-रंग में घुल मिल गये।

इसी प्रकार की कई घटनाओं के कारण घर के निवासियों के बीच खाई पड़ती गई। हिमू के विवाह की वर्षगाँठ आ गई। सुमन की गोद में एक नन्हा सा शिशु भी आ गया था। परन्तु घर में उस दिन प्रसन्नता का लेशमात्र भी न था। घर का यह वातावरण देख-देख कर सुमन छटी नहा कर ही अपने मायके चली गई और महीने भर तक वहीं रही। इन दिनों हिमू भी सुबह पाँच बजे घर से निकलता तो शाम को दूकान से हिसाब लेने के वक्त ही लौटता। फिर गायब होता तो रात के ग्यारह-बारह बजे लौटता। महीने भर बाद हिमू ने अपने खर्च से सुमन को उसके माता-पिता सहित नैनीताल भेज दिया। सुमन ने गर्मियाँ वहीं काटीं। हिमू ने भी वहाँ का एक चक्कर लगया जिन दिनों सुमन नैनीताल में थी, हिमू दूकान पर कुछ ज्यादा बैठने लगा, और बैठा-बैठा सुधी के प्रत्येक काम को जाँचता रहता। "तेरा बैठने का तरीका गलत है, ग्राहकों से बोलने का ढंग गलत है, अपने दोस्तों को दूकान में बुलाना गलत है।" संक्षेप में सुधी जो भी करता, गलत था। दूकान के कार्यकर्ताओं में एक पुराना सेल्समैन था जो पिता के समय से चला आ रहा था हिमू ने उस से कहा, "क्या करूँ सुधी भाई है नहीं तो कान पकड़ कर दूकान से निकाल देता।" बूढ़ा यह सुनकर बोला, "हिमू बाबू, सुधी धीरे-धीरे सब सीख जायगा। आपने भी तो काम मुझ से ही सीखा था। मेरी समझ

में सुधी ने बहुत जल्दी बहुत कुछ सीख लिया है ।"

इसी प्रकार की निरन्तर टोका-टाकी से परेशान होकर सुधी घर से भाग गया । हिमू के मुहल्ले में हाय-तोबा मच उठी । काकी पागल सी हो गई । सब प्रकार की कोशिशें की गई । परन्तु सुधी का पता न लगा । हिमू और सुमन की करतूतें सब को मालूम हो गईं...सब थू...थू करने लगे । सुमन को तार से नैनीताल से बुलाया गया । सुमन आई परन्तु कोसती हुई...मन में प्रसन्न होती हुई, क्योंकि अब घर की पूरी पूँजी के अधिकारी थे उसके पति । सुमन के लौटने के महीने भर बाद उस के मुन्ने को बुखार चढ़ा और दो दिन बाद वह चल बसा । पास-पड़ोस की महिलायें सुमन से मिलने आई । सब ने यही कहा "बहू, तुम काकी को दुःख देना बन्द कर दो । तब ही तेरे घर में भी सुख की बेल फलने फूलने लगेगी ।" कोई कहता, "बहू जब तक काकी की आँखों में आँसू हैं तब तक तुझे सुख नहीं मिल सकता । इस प्रकार की बातें सुन कर सुमन की समझ में यह नहीं आ रहा था कि उसने कब और कैसे काकी को दुःख दिया है ? अपनी समझ में तो वह किसी को दुःख दे ही नहीं सकती । बहुत सोचने-विचारने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आया । हारकर वह काकी के पास गई । काकी ने उसके सामने अपना हृदय खोल कर रख दिया । अब सुमन की समझ में आया कि अपने बच्चे को खो कर उसे जितना दुःख हुआ उतना ही सुधी के जाने से तथा उसके पति के बदले हुए व्यवहार से काकी को भी दुःख हुआ होगा । शाम को जब हिमू घर आया तो सुमन ने उससे सुधी की ढूँढ निकालने की ज़िद की । हिमू ने अखबार में विज्ञापन निकलवाया कि 'सुधी, तुरत लौट आओ, काकी सख्त बीमार है । तुम से मिलना चहती है ।' दूसरे दिन शाम को सुधी दबे पाँव घर आ गया । फटे हाल वह ऐसा लग रहा था जैसे वर्षों से बीमार अथवा जेल में हो । काकी उसे गले लगा कर फूट-फूट कर रोई ।

फिर घर मे खुशी के बादल छा गये। सुमन ने सुधी के नहाने का इन्तजाम किया अपने हाथों से उसे खाना पका कर खिलाया। उस दिन से घर की वह चुप्पी फिर प्रसन्नता में बदल गई। चार महीने बाद सुधी का विवाह भी हो गया। क्षमा के लिये लड़का ढूँढा जाने लगा।

घर का यह बदला हाल देखकर काकी खुश थी। परन्तु अब तक जो हो चुका था उस का प्रभाव उसके मन मे गहरा गड़ गया था। वह घर से जाकर किसी आश्रम में रहना चाहती थी। परन्तु सुधी उसे रोकता रहता था इस प्रकार चाहे ऊपर से सब हँसते बोलते थे, पर मन में सब के दरारें पड़ चुकी थी। संभवतः जब हिमू और सुधी के बच्चे फिर से "क" से कबूतर, "ख" से खरगोश, "ग" से गधा और "घ" से घर आदि काकी से पढ़ने लगेंगे तभी यह दरारें भी लुप्त हो जायेंगी।

कुसंस्कार

आज रूपी दो वर्ष की अनुपस्थिति के बाद 'स्नो हाल' क्लब के नृत्य स्थली पर उतरने वाली है। आज ही के दिन दो वर्ष पूर्व उसके पति का देहान्त हो गया था और जब क्रूर समाज के कारण उसे क्लब जाने से रोकना पडा तब वह बेचारी पागल हो गयी थी। पहले तो वह घर पर ही एक कमरे में बन्द कर दी गयी थी परन्तु आगे चलकर उसे पागल-खाने और अन्त में सायकायट्री व्योरों में इलाज के लिये भेजा गया था। वहाँ के चिकित्सक ने रिपोर्ट दी कि उस पर किसी प्रकार के बन्धन न रखे जायँ। अतः उसे सब प्रकार से मुक्त कर दिया गया। बन्धनों के हटते ही उसने नृत्य स्थली पर उतरने की अपनी उत्कट इच्छा प्रगट की।

यह समाचार 'स्नो हाल' क्लब में बिजली की तरह फैल गया। आज क्लब के सारे सदस्य अपने मित्रों सहित वहाँ पहुँचे और बेचैनी के साथ रूबी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। पचास वर्ष की आयु की रूबी आज आयेगी और अपने बेटे के साथ नाचेगी—बस इसी विचार ने युवा-वृद्धा सभी की आँखों को चंचल कर दिया। सब बार-बार मुड़ कर क्लब के गेट की ओर देख रहे थे। एक-एक मिनट काटे नहीं कट रहा था। बैरे

भी फुरती से काम कर रहे थे। बैंड वाले रूम्बा की धुनि बजा रहे थे और नर्तकों के सात जोड़े नृत्य स्थली पर नाचने के लिए उतर भी चुके थे।

रूबी आई। वह आ गई। साथ में उसका बेटा डाक्टर ब्रह्मदत्त भाटिया था। रूबी को देख बैंड वालों ने टैंग नृत्य का बोर्ड लगा दिया। रूम्बा धुनि बजती रही। रूबी आगे बढ़कर अपने पुराने स्थान पर बैठ गयी उसके मुख पर प्रसन्नता स्पष्ट रूप से झलक रही थी। हैंड बैरा ने आगे बढ़कर गिमलेट का पेग उसके सामने पेश किया ! बैरा को बिना देखे ही रूबी ने पेग उठा लिया। उसका ध्यान नाचने वालों की ओर था बैरा ने झुककर डाक्टर भाटिया के कान में न जाने क्या कहा ? उत्तर में उन्होंने अपना सिर हिला दिया और बैरा आश्चर्य की मुद्रा में लौट गया। डाक्टर भाटिया भी आश्चर्य भरी दृष्टि से एक ओर देख रहे थे। उन्होंने कभी संसार के रूप को नही देखा था। यद्यपि वह एक परिवार का पुत्र था जो क्लब पर बलि चढ चुका था। केवल डाक्टर भाटिया ही न जाने कैसे उसके अपवाद के रूप में उत्पन्न हुए थे। उन के पिता ने इस क्लब की नींव तब डाली थी जब उसकी माँ रुक्मणी जो आज रूबी के नाम से क्लब-संसार में प्रसिद्ध हैं केवल दस वर्ष की थीं। अपने पति का रंगरवैया देख कर डाक्टर भाटिया की दादी क्लब की स्थापना के साल भर बाद ही चल बसी, कुढ़-कुढ़ कर, जल-जल कर और रो-रो कर। फिर रूबी के पिता पर एक बेटी और एक बेटे का लालन-पालन का भार आ पड़ा। रूबी को तो वे अपने साथ-साथ लिए फिरते थे और कार के ड्राइवर के साथ रहता उनका बेटा। क्लब के सारे बैरों तथा नौकरों को यह आज्ञा थी कि बच्चे जो माँगे उन्हें तुरन्त दे दिया जाय। रूबी के भाई रुस्तम ने सोडे से प्रारम्भ किया और फिर ओरेन्ज क्रेश और क्रीम दी मिन्थ के क्रम निरन्तर आगे बढ़ते गये और शेरी जिन पोर्ट अन्त में रम विस्की बरांडी आदि के अभ्यस्त बन गये। कुछ ही साल में रुस्तम केवल शराब

पर ही जीने लगा और अन्त में एक दिन ज्ञात हुआ कि रुस्तम का हार्ट फेल हो गया। इसी बीच नृत्य कौशल के कारण रूबी का शहर भर में नाम हो गया था! क्लब जीवी युवा और वृद्ध उस के साथ नृत्य करना अपना सौभाग्य सनझते। उस से विवाह करने की इच्छा प्रकट करते। इन प्रस्तावों को सुनते-सुनते रूबी ने एक की पाणि-प्रार्थना स्वीकार कर ली। कुछ समय पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिस का नाम रक्खा गया ब्रह्मदत्त। वह बचपन से ही अपनी बुआ के घर पला था, रूबी को क्लब का हंगाम पूर्ण जीवन व्यतीत करने में बच्चे के पालन का अवकाश ही न था। जिस दिन से स्नो हाल क्लब का उद्‌घाटन हुआ था उस दिन से पति के मरने के दिन तक रूबी नित्य क्लब के नृत्य-भवन में देखी जाती। रूबी को संसार में चाहे और कुछ न मिले परन्तु नृत्य किये बिना वह नहीं रह सकती थी। नृत्य मानो उस के जीवन का एक आवश्यक अंग था। इसी लिये तो जब उसे क्लब जाने से रोका गया तो वह पागल हो गयी। और आज पुनः क्लब पहुँच कर एक स्वर्गीय प्रसन्नता मानो उसके रोम-रोम से प्रफुल्लित हो रही थी। कुछ देर इसी प्रकार बैठे-बैठे वह प्रकृत-स्थ हो गयी। बैंन्ड वालों ने अपनी धुनि बदली और टैंगो नृत्य की धुनि बजाने लगे। रूबी ने अपने बेटे की ओर देखा, दोनों उठे, नृत्य स्थली पर पहुँचे और मन्द गति से नाचने लगे। ब्रह्मदत्त आज नृत्य-भवन में कितनी मानसिक अस्वस्थता का अनुभव कर रहा था यह कोई उसी से पूछे। परन्तु वह जैसे-तैसे सब कुछ सहन कर रहा था। माँ और बेटे में इतना अन्तर? कहाँ तो रूबी फोक्स ट्रोट और वाल्टस के सामने त्वरित धुनों की सर्व प्रसिद्ध नतर्की और कहाँ उसी का बेटा मंदगति वाली टैंगो धुनि पर भी नहीं नाच पाता।

नृत्यस्थली में परिक्रमा करने वालों ने ब्रह्मदत्त की परेशानी देख ली। उन में से एक वृद्ध व्यक्ति ने उस की पीठ पर हाथ रक्खा और

टैंगो नृत्य के नियमानुसार ब्रह्मदत्त को अपनी सहनर्तकी छोड़ देनी पड़ी। वह व्यक्ति रूबी के साथ नाचने लगा। क्रमशः दोनों में बातें होने लगीं और वह मुस्कराने भी लगे। ब्रह्मदत्त चाहता तो किसी भी नाचने वाले जोड़े के पुरुष नर्तक के कन्धे पर हाथ रख देता और उसका स्थान ग्रहण करके स्वयं एक अपरिचिता युक्ती के आलिंगन मे कुछ पल व्यतीत करता और अपनी वासना को सभ्यता के आवरण में तृप्त कर सकता था। परन्तु उसने यह कुछ नहीं किया और लौट कर अपनी सीट पर आकर बैठा। पाँच मिनट बाद बैंड वालों ने बजाना बंद कर दिया। नाचने वालों ने रुक कर तालियाँ बजाई। दूसरी धुनि बजने लगी और जोड़ियों ने फिर नाच प्रारम्भ कर दिया। रूबी एक के साथ नृत्य आरंभ करके दूसरे, तीसरे और चौथे व्यक्ति की सहनर्तकी बनी। अब पाँचवे के साथ नाच रही थी। वह सब से बोलती और मुस्कराती जाती। यह सब देख कर ब्रह्मदत्त के मस्तिष्क में कई विचार उठे। उसने अपने संसार की इस संसार मे समानता की। जिस संसार से परिचित था वहाँ पर संयत प्यार का मान था। प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच मर्यादा की एक दूरी थी। वह एक झलक देख कर ही कई दिन तक बनी रहने वाली प्रसन्नता तुष्टि प्राप्त कर लेते। दिन-रात एक-दूसरे का स्मरण करते रहते। मन में एक मीठी पीड़ा और एक कसक रहती। दूर रहते हुए भी वह अपना सर्वस्व अर्पण कर देते इसी को तो आत्मा का मिलन आत्मा की एकता कहा जाता है। उसके इस ससार में यदि एक बार किसी से प्यार हो जाता हो तो दूसरा उसके स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता था। कहा जाता है—कि पहला प्यार ही सब कुछ—स्वर्ग की एक देन है। इसी प्यार मे पहले जन्म का साथी मिल जाता है और उसके निभाने में ही स्वर्ग के सुख का अनुभव संभव होता है। इस में वासना के लिए कोई स्थान नहीं है। मन की बर्बरता का गला घोंट दिया जाता है। सब कुछ

नियमित संयत दूर-दूर और अच्छा-अच्छा लगता है। इस को शुद्ध प्रेम कहते हैं लोग, परन्तु इस बाल रूप वाले संसार में सभी कुछ उल्टा है। संयम का निशान नहीं। हर कोई अन्जान व्यक्ति यौवन में चूर बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहने सौन्दर्य में चार चाँद लगाए तथा अपने को अत्याकर्षक बनाए यहाँ रात को एकत्रित होते हैं। जो थोड़ा संयम रख भी सकते हैं वह भी नहीं रखते। जैसे ही क्लब में घुमते हैं। अपनी वासना को तृप्ति के लिये जो भी करना चाहे विलायती ढग से कर सकते हैं। इस कामुक मनोवृत्ति पर शान चढ़ाने के लिए ऊपर से कुछ पी भी लिया जाता है जिससे कि चेतन बुद्धि तनिक भी 'हाँ' 'न' न कर पाय और मन में जो भी इच्छा उत्पन्न हो वह बिना किसी बाहरी या भीतरी रुकावट के कर गुजरा जाय। परन्तु विलायती शिष्टाचार के साथ। यह लोग मन में उद्यान वासना लेकर आते हैं और उन्हें एक बिलायती ढंग से तृप्त कर लेते हैं। भला हो इन अंग्रेजों का जिन्होंने हमारे उच्च शिक्षित और सम्पन्न समाज को वासना की तृप्ति के लिये 'एक' के फार्म्यूला के स्थान पर नृत्य भूमि पर 'भूमा' के प्रगाढ़ आलिंगन से तृप्ति पाने की राह दिखाई।

एक बैरे ने आकर डाक्टर भाटिया के कान में कुछ फुसफुसाया। उन का ध्यान टूटा। बैरा चला गया और नींबू के पानी का एक ग्लास ले आया। बैरे से पूछने से पता चला कि आज शनिवार होने के करण सुबह दो या तीन बजे तक नाच चलता रहेगा। यह सुन कर डा० भाटिया के मुख पर झुँझलाहट के चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे। वह उठ कर हाल के बाहर चले गए। वहाँ कुछ देर बाग में फिरते रहने के बाद पुनः लौटे तो देखा कि बैन्ड बजना बन्द हो गया और सब बैठे कुछ न कुछ पी रहे हैं। उनकी माँ भी कुछ लोगों से घिरी बैठी थी और हँस-हँस कर बातें करती हुई पीती जा रही थी। उन्हें यह अच्छा न लगा। उन्होंने कार की चाबी एक बैरे के हाथ अपनी माँ के पास भेज दी और स्वयं पैदल घर की ओर

चल दिये। कार की चाबी पाकर रूबी को कुछ ऐसा अनुभव हुआ मानो उनका बेटा उनसे विरक्त है—उन का रंगरवैया उसे रुचिकर नहीं है। बेटे के रुख का यह संकेत पाकर क्षरणेक को वह विचारमग्न हो गई। मित्रों ने उनकी परिवर्तित मुखमुद्रा देख कर कारण पूछा तो उन्होंने अपाने कन्धों को शिष्ट समाज में प्रचलित ढंग से उचका कर बतला दिया। कि उनका पुत्र उनके आचरण से असंतुष्ट है उन्हें क्लब में छोड़ कर घर लौट गया है। मित्रों में से कुछ ने डाक्टर भटिया के इस आचरण के लिए उनकी आलोचना की। कुछ ने केवल मुस्करा कर रूबी की ओर सार्थक दृष्टि से देखा और कुछ, जो अधिक पेय धारण करने के कारण अत्यंत मुदित-मूड में थे, ठहाका मार कर हँसने लगे और हँसते-हँसते रूबी की पीठ पर सौहार्द्र—सूचक थपाका मार-मार कर बोले 'ओ वेल लेट हिम जॉली वेल प्लीज हिमसेल्फ। डोन्ट लेट दैट वरी यू एनी। ही इज वेल अवे ओल्ड गर्ल।''

हँसी विनोद और निश्चिंतता के इस उद्दाम प्रवाह में रूबी की क्षणिक गंभीरता भी बह गयी। उसने पुनः गिलास उठाया सबने उसका अनुकरण किया और तरल अग्निपान से सब के मुखमंडल पर एक रक्ताभ आलोक उद्दीप्त हो उठा। कुछ प्रकृतस्थ होने पर...... । रूबी के चारों ओर बैठे मित्रों ने सुझाव दिया कि वह क्लब में ही रह कर क्लब के कार्य की देख-भाल करे। रूबी ने यह प्रस्ताव मान लिया और उसी रात से वह क्लब के एक ब्लाक में रहने लगी, लौटकर घर न गई।

अन्तर्द्वन्द

मुझे नहीं करना ऐसा, जिस ऐसे को करके मेरा मन पराया हो जाये, जीवन भर के लिए मन जैसी एकदम अपनी चीज, निमोलियों की तरह कड़वी हो जाये। सुबह से रात तक, घूमने जाओ तो, वो परसों संक्रांति के तिल देने गयी थीं हम लोग वहाँ भी मेरे विवाह की चर्चा लेकर माताजी ने सावन-भादों कर दिया। जब देखो विवाह...उससे कर लो, इससे कर लो...मिलिट्री में है यह, इस के बाप फेक्ट्रियाँ छोड़कर मरे हैं, जैसे मुझे बंदूकों और फ़ेक्ट्रियों के पहियों के साथ हँसना-बोलना है। फिर क्यों किया जाये विवाह ? विवाह करके ही क्या ऐसा हो जायेगा ? यही न, कि देखो जी मेरे कपड़े गंदे हैं, धोबी क्या हुआ।...यह लीजिए इतनी बड़ी मैं, इन के गंदे कपड़ों को गिनते-गिनते पूरी जिन्दगी बिता दूँ ! यही न समझता है पुरुष स्त्री को; बस, चाय ठीक तरह से वक्त पर मिल जाये...कपड़ों और किताबों पर बिल्कुल गर्द का कहीं नामोनिशान न हो, दोस्तों के आजाने पर 'अरे सुनना जी'......पूरी करते चले जाओ पुरुष की जरूरतें और अपना तन-मन दोनों खटाते चले जाओ। इसी के प्रति न माता जी, अड़ोस-पड़ोस की चाचियाँ, भाभियाँ, हँस-हँस कर लुभाती

हैं ? छिः पूरा मन एकदम इस बँधेपन पर उबकान से भर जाता है।

इतना सारा जो कालेज के लॉन पर बैठ कर सोच जाया करती हूँ अपने बारे में, व्यक्तित्व के बारे में ! क्या उसे माता जी के आँसुओं के सामने झुक जाने दूँ ? क्यों ! दास नही बनना चाहती, कामिनी किसी की भी दास नही थी और न होगी ही...तभी तो डाक्टरी का इरादा है। बस, अपनी एक डिस्पेंसरी होगी और मै दिखा दूँगी कि स्त्री स्वयं मे पूर्ण है, वह तुम्हारी सहायता की कदापि अपेक्षा नहीं करती। और क्यों करे ! अपेक्षा और कामिनी ! उस छावनी वाले गार्डन में पकी जामुने खाते वक्त मै मीरा, कान्ता किसी की भी सहायता की अपेक्षा नही करती तो फिर दूसरे की बात तो दूर की बात है। वह कलमी आम बेचने वाला मुझ से रूमाल लेकर उन्हे बाँधना चाहता है तो उसे तक बर्दास्त नहीं कर सकती क्योंकि स्त्री अपाहिज नही होती जैसा कि पुरुष समझता है। वह अपाहिज बना दी गयी है !

"कम्मो कम्मो"

माता जी की आवाज आ रही है।

यही माता जी, जाने कितने बच्चों की माँ बनी किन्तु एक भी नहीं रहे ! रही तो मैं, अकेली मै ! और पिता जी, इस समय हालाँकि सुबह के दस बज रहे हैं क्लब में अपने किसी दोस्त के साथ बैठकर ब्रिज खेल रहे होगे ! फिर उस के बाद स्वीमिंग और दो बजे के लगभग जब दुनियाँ भर के लोग जा चुकेगे तब घर लौटेगे...इस के बाद घर भर में एक किचकिच-फसाद का मार तूमार खड़ा हो जायगा ! बेचारी माता जी पर मारे गुस्सा ही गुस्सा ! मैं पूछती हूँ ऐसा क्यों भला ? अगर माता जी उन्हें घर जल्दी आने के लिये टोकती हैं तो क्या बुरा करती हैं। महाराज को रोज की परेशानी ! दोपहर का खाना तीन बजे रोज खाया जाता है और शाम का...भगवान जाने कभी एक बजे रात के

पहले खाया गया हो तो! बैठे रहो इंतजार में हाथ पर हाथ धरे। लाल आँखें किये लड़खड़ाते हुए जब सवारी आती है तो क्या मजाल कि जो माता जी के मुँह से एक हरफ भी निकल सके। इसी को माता जी गृहस्थी का सुख कहती हैं। कम्मो। अरे सुनती है ?...अबकी आवाज में कुछ रोष था ।

'आयी'—मैंने कहा ।

जिस समय में माता जी के कमरे में पहुँची, उनकी खिड़कियाँ खुली हुई थीं। खिड़कियों की छड़ों में से दूर के पेड़ों का हरापन और उनकी मोटी-मोटी धरती पर बिछी हुई छायाएँ दिखाई दे रही थीं। धोबियों की, नाले पर धोते हुए कपड़ों की छ्यों...छीयों की हल्की आवाज़ें आ रही थी। धोबिनें रस्सी पर गीले कपड़े धूप में सूखने के लिए डालती जा रही थीं। कमरे में श्रीकृष्ण की फोटो पर रेशमी माला का फुन्दा हवा में धीरे-धीरे उड़ रहा था ।

'कम्मो ! तुम आगयीं...क्या कर रही थीं ऊपर ? प्रश्न अन्य दिनों की अपेक्षा आज कुछ दूसरी तरह से पूछा गया था। क्योंकि मैं देख रही थी कि एक अपरिचित की पीठ मेरे सामने है और माता जी इससे बहुत कुछ छिपाया चाहती हैं।...अब वह अपरिचित मेरी तरफ तिरछे मुँह कर देख रहा था ।

"दिलीप ! यह है कामिनी...देखते हो कितनी बड़ी हो गयी है... तुम भी तो बड़े हो गये"...वह दिलीप नाम का व्यक्ति अब तक कुर्सी पर से उठ चुका था और हँसते हुए अपने दोनों हाथ जोड़ चुका था ।

'कम्मो ! दिलीप को भूल तो नहीं गयी ? वो जो मुकर्जी बाबू लाहौर में हमारे घर के पास रहा करते थे ? और वह अपरिचित दिलीप, वो दिल्लू ही है जो अपनी नेकर की जेबों में पान रखने-वाली डिब्बी में संदश और चमचम भर कर आया करता था ?...मुझ से भी छोटा

दिल्लू आज कैसा पहाड़ का पहाड़ जैसा लग रहा है। इतने बड़े पेड़ों की तरह मोटे-मोटे हाथ-पैर जाने कहाँ से निकल आये इस के उस छोटे से जिस्म में से।

"आप कैसी हैं कामिनी जी ?"...

"जी ! बहुत ही अच्छी हूँ, आप कब आये ?"

"आने के नाम पर तो अभी इस शहर में स्टेशन तक ही आया हूँ"...

"बिल्कुल मोहन की तरह ही इस दिल्लू की आवाज है"...और माता जी की अपने मृतपुत्र मोहन का स्मरण हो आया, जो सात बरस का होकर मरा था और जिस की पीठ पर मैं पैदा हुई थी।

"दिलीप बाबू, स्टेशन का आना तो नहीं माना जायेगा न"...

माता जी ने अपनी साड़ी से आँखें पोंछते हुए कहा,

नौकर गया है सामान लेने...और तुम अपने पापा को क्लब फोन कर दो दिलीप आया है। आज बिना स्वीमिंग के ही चले आयेंगे तो कोई आसमान नहीं फट पड़ेगा।

... ...

दिलीप को आये आज दो मास हो गये। मैं जानती हूँ कि दिलीप झूठ बोला है कि वह हवा बदलने के लिए यहाँ आया है। क्या हुआ आज में उससे दस-बारह बरस बाद मिली हूँ। तो वह माता जी से कह सकता है कि स्वास्थ्य के लिए पहाड़ अच्छे होते हैं मगर मुझ से वह क्या कहकर बच सकता है ? रात भर उसके कमरे में से प्रकाश दिखाई पड़ता है और कभी-कभी हल्के से बेला का स्वर। सुबह चाय के वक्त लाल सुर्ख आँखें किये जब वह भौंचक्का सा देखता रहता है, मुझे कितनी झल्लाहट आ जाती है।"

अभी-अभी वह मेरे कमरे से उठ कर गया है...ठीक इसी फैन के

नीचे उस के लम्बे-लम्बे बाल उड़ रहे थे। वह ग्राज-कल क्या कर रहा है, पहाड़ों पर वह ग्राज किधर घूमने गया था, सब की बातें गुमसुम बैठा-बैठा सुना करता है। मैं जानती हूँ उसके मन की बात...मगर उस बात को ग्रपने ग्रोठों तक लाने पर मुझे कितनी लज्जा लगती है। उन दिनों स्कूल में जब वह नीचे के दर्जे में पढ़ता था...। रीसेस में पास के शरीफे के बगीचे से शरीफे लाकर मुझे देते हुये कहता था लो कम्मो खाग्रो...ग्रौर उन गदराये सीताफलों मे मुँह डालते हुए हजार बार कहा होगा खालो कम्मो ! नहीं, कम्मो जिज्जी !...ग्रौर दिलीप ग्रपने हाथ की शरीफे की लकडी से उस पैरों तले उगी हुई जंगली घास को इतनी जोरो से मारने लगता था कि उन के सारे पीले फूल झडकर पंखुरी-पखुरी हो जाते थे ग्रौर वे पीले कागज से परों वाली तितलियाँ कितनी जोरों से जान छुडाकर भागने लगती थी। वह तब ग्रपने चमड़े के जूतों से दूबो के हरे सिरों को कुचलते हुए कहा करता था...भरे-भरे कठ में "खाली कम्मो" ग्रौर कुछ भी नही ग्रौर जिज्जी तो कभी भी नही"... ग्रौर स्कूल की घंटी टनटनं कर उठती थी...मूर्ख कही का। ग्राज तक उस सपने की गाँठ बाँधे घूम रहा है।

मैं भी कैसी हूँ जो इतनी रात गये फिजूल सा सोच-सोच कर नींद खराब कर रही हूँ। ग्रब इस साल के ठीक सात साल बाद में एक स्वतंत्र डाक्टर हूँगी। मेरा ग्रपना एक स्वतत्र व्यक्तित्व, इज्जत होगी, जो किसी भी पुरुष के ग्राधे नाम के साथ संबंधित न होगी केवल... कामिनी होगी...

मात्र डॉक्टर !

कितनी खूबसूरत हवा, एकदम बहुत सारी इस खिड़की के पार चल रही है, जो पूरे शहर पर, घरों पर, छतों पर उड़ रही है। म्युनिसिपल

लाइटों के ठीक नीचे से ये मोटरों की ऊपरी छतें कैसी चमचमाती हुई लग रही हैं।

इस सामने के पार्क में लोगबाग अपने-अपने बच्चों को पेरामबुलेटरों में बैठाये आये थे और अब वे इस समय घरों में पहुँच कर छोटी-छोटी बातों पर झगड़ रहे होंगे। पिता जी क्लब से लौटकर माता जी से झगड़ेंगे, नौकरों पर झाड़ पड़ेगी, फिर सब खुर्राटे भरते हुए सो जायेंगे, कल सुबह तक के लिए। क्या इसी को करने के लिए मैं भी विवाह करूँ ? मेरा पति, मानलो यह दलीप ही हो जाय तो क्या सबूत कि लड़ने न लगे ? क्या प्रमाण, कि यह केवल मेरा, बिल्कुल वैसा ही मेरा होकर रहे, जैसी कि मैं अपनी हूँ।"

और मैं कितनी जोर से बोल पड़ी हूँ आखिरी वाक्य..."मैं अपनी हूँ..."

"अभी आप सोयीं नहीं कामिनी जी ?"

अरे यह तो दिलीप फिर आया ? क्यों ? शायद नीद न आ रही हो। मगर मैं कोई नींद आ जाने की दवा हूँ ? फिर क्यों आया है ? क्या यह कहने कि बिना मेरे उसे नींद नहीं आती ? छिः छिः...और जंगली घास को मारता हुआ खाकी हाफपेंट वाला दिल्लू मेरे सामने खड़ा हो गया है। शायद तब मूँछ नही थी...शायद क्या, बच्चों के मूँछें ही कभी नहीं होतीं...हालांकि इस दिलीप ने आज ही मूँछे बनाई होंगीं, डाढ़ी बनाते वक्त, मगर इस समय वहाँ पर हरापन साफ दिखाई दे रहा है।

"बैठो दिलीप ! क्या नींद नहीं आ रही थी"...

और दिलीप चुप !

"पहाड़ को हवा से कुछ फायदा हुआ या नहीं ?"

"कोई विशेष नहीं कामिनी जी दिलीप ने कहा।"

इस के बाद क्या करने के इरादे हैं ?...एक दम सिर पर जलती हुई लाइट बुरी लग रही थी। यह वाक्य कहते-कहते मैं स्विच बोर्ड की ओर बढ़ी।

इरादा तो विवाह करने का है...मगर देखता हूँ आयु के उस अभाव को पूरा कर न पाऊँगा जो बाधक हो रहा है। और अब एक बार फिर बेकार मन ले बम्बई, मद्रास की सड़कों पर नारियल का ताजा पानी पीता हुआ घूमूँगा ! अपनी कुर्सी पर बैठते हुये कहा मैंने...।

"प्रोग्राम तो बुरा नहीं है, किन्तु टिकाऊ ज्यादा नहीं है ... इसके पीछे मन भले ही हो, बुद्धि से बिल्कुल भी नहीं पूछा गया है।"

और हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। शायद हम लोगो की हँसी खिड़की के बाहर के कालेपन मे जरूर मिल गयी होगी और पतली होकर पूरे शहर पर बिछ गयी होगी ! "दिलीप ! विवाह के लिये कहीं कोई खोज रखी है" ?... मे प्रश्न को इस तरह रखना चाहती थी कि कहीं यह उस आजतक की दबी हुई बात को ... भले ही वह बिना बोले कितनी ही साफ क्यों न हो, मगर बोली तो नहीं गई न ?... कहकर साफ न कर दे।

"आप इस वर्ष के बाद क्या कर रही हैं ?

और मुझे लगा कि यह व्यक्ति यदि जीवन भर भी मेरे साथ रहे फिर भी नहीं कह सकता है कि "कामिनी मैं बिना तुम्हारे नहीं रह सकता"...मगर दोष भी तो मेरा है। इसमें दोष कैसा ? क्या सम्पर्क में आने वाला हर व्यक्ति कामिनी के लिये इतना महत्त्व का हो जाये कि बस...न् न् फिर तो जाने कितने भले-बुरे, अमीर-गरीब, आयें मगर कामिनी कहीं भी बेगानी होने को तो नहीं रुकी। उसे तो डाक्टरी करनी है और दिखाना है कि तुम सबके बिना वह ज्यादा अच्छी है।

"सोचा है डाक्टरी पढ़ने का"...

"स्वतत्र व्यक्तित्व के लिये बिल्कुल ठीक है।..."

"स्वतंत्र तो क्या दिलीप ..."

"स्वतत्र क्यो नही ... बचपन की कामिनी को नही जानूँगा, जिसे पुरुषों से विद्रोह नही घृणा भी है"

"दिलीप, बात ऐसी नही है !"...

'कामिनी जी ! और सोच लीजिए बात किस तरह घुमा-फिराकर कही जाये"... मै जब तक दिलीप की बात पूरी तरह समझ सकूँ, वह उस बडे जीने से नीचे की ओर जा चुका था ।

आज सुबह से धूप और बारिश आँखमिचौनी खेल रहे थे। रात कब दिलीप मेरे सिरहाने बैठा-बैठा मुझ से बाते करता रहा, मुझे याद नही। कल शाम अपनी खाकी पेट की जेबो मे कुछ किताबे भरकर जब वह नीचे के कमरे से निकल कर जा रहा था, मै जीने से उतर कर उसे बुलाने जा रही थी। उसका मुँह एकदम उदास, पीला-पीला हो रहा था। यह नही कि मैं कारण नही जानती थी किन्तु कोई इस बात को लेकर इस तरह बरफ की तरह घुलता ही चला जा सकता है, यह समझना मेरे लिए कठिन है।... मैंने जब उसे पुकारा तब वह कितना ठिठक कर खडा हुआ था।

अपनी पेट की जेबो मे हाथ ठूँसते हुए बोला था,

"कहिए ?...क्या बात है ?

"चलो न, ऊपर चाय के लिए रास्ता जो देखा जा रहा है, तुम्हारा" '...मैंने कहा था।

'चाय ? चलिए, ऐसे तो कुछ नही..."

वह बोल रहा था और मैं सोच रही थी कि क्या आदमी है ! कोई बात चाहकर भी इतनी हिम्मत भी नही है कि उसे अभिव्यक्त कर दे। किन्तु मैं उस अभिव्यजना का क्या मोल आँक सकूँगी? नही जी !, यह मेरा अपना सवाल है। जिस सवाल को मैं इस दिलीप के उतरे चेहरे या पीले-

पन से ता नहीं ही बदल सकूंगी। यह ठीक है, मुझे कोई चाहता है, किन्तु वह चाह मेरी अपनी भी हो जाये वह भी तो सभव नहीं।"

और जब मैने ऊपर सिर कर देखा, दिलीप मेरी ओर उसी तरह हँसते हुए देख रहा था...ऐसे देख रहा था...जाने कैसे? और मुझे लगा कि मेरे साथ "४२ के विद्रोह मे रेल की पटरियाँ उखाड़ने वाला दिलीप, जो कि उस नर्मदा के बड़े पुल की मिलिट्री गार्ड से भी न डरने वाला था। इस समय मेरे सामने कैसा गुमसुम, केले के पेड़ की तरह बोदा, चिकना खडा है।

और मुझे हंसी आ गई थी।

जिस समय हम दोनों टॅरेस पर पहुँचे पहाड़ों की उजली चोटियों पर साँझ की पीली हल्दी बरस चुकी थी। पहाड़ी नदी और झरनों की आवाज़े पछाड़ें खाती हुई सी लग रही थीं। चट्टानों के बीच से ऊँची-नीची घाटियों पर झोपड़ियाँ कही-कही और बहुत दूर के सूखे-सूखे आसमानी रंग के पहाडों पर गाँव, जिनकी सफेद काली छतें, बर्र के छत्तों की तरह दिखलाई पड़ रही थी। पहाड़ी पगडंडियों से जाते हुए आदमी और औरतें...बिल्कुल ऐसे लग रहे थे, जैसे चीटियों की पातें, बोलती हुई चीटियाँ...जो कि रोज इन पहाड़ियों से उतरती हैं—अपनी चपटी-चपटी नाक लिये हुये! जिनकी औरतों के गोल-गोल चेहरे और गले में सूत की डोरियाँ जिनमें आसमानी, गहरे लाल या सेंदुरी छोटे-छोटे पत्थर बँधे हुए...इन्हें कोई चिन्ता नही। मगर नहीं—कोई चिन्ता क्यों नहीं?? खेत-खलिहान, लगान-बसूल, जाड़ा-पाला, कर्ज-व्याह ... मगर नहीं जी! कामिनी के मन को चाहे ये सब चिन्ताएँ न हों किन्तु फिर भी वह ऐसा क्या है जो दिन रात खाये जाता है! और जो कि पियराती साँझ और हल्दी के रंग में डूबी

हुई एकदम ठडी बरफ भी जिनके मन को हँसा नही सकती ! मन की सूरजमुखी जाने क्यो अपनी पल्कें बद किये है ?

"कामिनी ! ऐसा क्या सोचने मे लग गयी ?...

"ओह दिलीप ! मै तो भूल ही गयी थी ... और य कहते-कहते टेरेस की सीमेट की ठडी मुंडेर पर मेरी अंगुलियाँ जाने क्या लिख रही थी।

"क्या भूल गयी थी कामिनी ?

दिलीप ने पूछा...

कुछ नही दिलीप" !

"शायद यह कि म यहा हूँ ! तुम्हरे मन की उमगो पर बधन लगने वाला, है न ? दिलीप ने नीचे जाती हुई पहाडी स्त्रियो की ओर देखते हुए कहा और जो कि दिलीप की तेज आवाज सुनकर ऊपर देख रही थी। उनमे से एक ने हँस दिया और सब हस दी। मैने दिलीप की ओर देखा। वह मेरी तरफ झेपते हुए देख रहा था और जैसे कह रहा हो कि कामिनी मेरा इसमे कोई दोष नही है। ...मूर्ख कही का ! जाने क्यो, मैं उसे और कुछ न झमक लूं। मै वैसा कुछ न सोच ले जाऊं, यही फिजूल का उसे बराबर ख्याल रहता है। सामने पेड की फुनगी पर बैठा हुआ हारिल अपने पैरो मे चोच से बदन खुजला रहा है। और मुझे मैदान मे नदी किनारे चाँद के उगने की बेला याद हो आई। उन बुरुस की झाडियो के पीछे से उगता हुआ चाँद मध्य काल की किसी राजपूत राजकुमारी के माथे पर झूलता हुआ जैसे चाँदी का आभूषण ?

नही जी यह ! सब फिजूल है, कमजोरियाँ हैं, कही कुछ भी तो नही है। ये सामने दिलीप खडा हुआ है। पीछे कमरे मे दिन की मोमबत्तियाँ काली पड़ती जा रही हैं। थोडी ही देर अँधेरा और फिर मंदा सा चाँद लिए वह सामने की डूँगरी ऊग आयेगी, जहाँ से ये पहाड़ी कहते है कि पिछले साल इनके गाँव की एक लड़की ने कूद कर आत्महत्या करली थी क्योंकि

कभी यहाँ कोई बाबू शहर से आया था और वह पहाड़िन उसे चाहने लगी थी ! बस, पहले चाह, फिर प्रेम करो और तब किसी दिन कूदकर खत्म हो जाओ, यही न ? बस हुआ अब तो !

"दिलीप, एक बात कहूँ ?" कामिनी ने कहा । "कुछ भी कहकर देख लो कामिनी !" दिलीप ने आँखों में आँख डालते हुए कहा । "शायद हमारा न मिलना ही श्रेयस्कर हो"...कामिनी ने कहा ।

कामिनी श्रेयस्कर क्या है, क्या नहीं, पर ! सोचने का वक्त और मन दोनों नहीं हैं मेरे पास—जो जानता हूँ वो यही कि हम अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति चाहते हैं । हमारा पूरा शरीर और मन दोनों अपनी अभिव्यंजना जब तक नहीं कर पाते तब तक हम अपूर्ण हैं ।...दिलीप ने कहा । "मैं जानती हूँ तुम अपना अपूर्ण मेरे शरीर और मन को लेकर पूरा करना चाहते हो"...कामिनी उत्तेजित हो रही थी ।

"सृष्टि चिढ नहीं है कामिनी ! छोटा पेड़, बड़े की ही तो अभिव्यक्ति है ।" रहने दो दिलीप ! अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना, सृष्टि, जानती हूँ इनके मतलब ! और बहुत सोचने के बाद में भी यह मतलब उस कड़वी दवाई की भाँति है जो मेरे गले के नीचे नहीं उतर पाती...।"

कामिनी के बाल पहाड़ी हवा के साथ उड़ रहे थे और पहाड़ी नदी की भाँति उसका स्वर चीखता सा लग रहा था ।

मुझे ठीक तरह याद है, रात की ये सारी बातें । मुझे डर लग रहा था कि कदाचित् मैं दिलीप को और अधिक समझने में कड़वी होती चली गई थी । किन्तु क्या करती, मुझे ऐसा कड़वा होना ही पड़ता । मुझे अपना एक दम सारा छोड़कर दूसरे का लेना जो आवश्यक कराया जा रहा था । दिलीप अभी भी शायद सोया है । हाँ, रात देर तक मेरे कड़वेपन को लेकर चीरफाड़ करता रहा हो । मगर अब तो उसे आ ही जाना चाहिये । चलूँ ! जगा ही दिया जाये !

दूब क फूल

उसका कमरा सूना पड़ा था। उसके बिस्तर पर सलवटो के नामो-निशान नही थे, उसका लिहाफ बिल्कुल कायदे से तहों मे लिपटा चादर पर छिपा था। शायद दिलीप रात भर कुर्सी पर बैठे-बैठे पहाडो की तरह, मोटा-मोटा सोच गया हो और अलसुबह पास की पहाडियो पर घूमने चला गया होगा। उसकी टेबल पर उसका राइटिंग पैड पडा हुआ था जिस पर पेपरवेट के नीचे दबा हुआ कोई पत्र था। शायद उसने किसी को पत्र भी रात-भर सोचने से थककर लिखा हो। हो सकता है मुझे ही लिखा हो !"

और दिलीप का पत्र, आँखो के सामने से गुजर रहा था...कामिनी ! तुम मेरी न हो सकी, मैं अपने को तुम से जुदा न कर सका। खैर... मैं आज जा रहा हूँ, धूप के आ जाने पर तुम्हे जब तक पता लगे कि मै कही चला गया हूँ शायद मेरी इस खिडकी से दिखती हुई सामने की बरफीली चोटी पर मेरा अस्तित्व चीटी की तरह, काले बिन्दु की तरह रेगता हुआ बहुत दूर दिखाई दे। मुझे शायद साइबेरिया तक तुम्हे खोजने जाना पडे, पर जा रहा हूँ। और जा इसलिये रहा हूँ क्योंकि मुझे तुम तक लौटना है। तुम्हारी बात मै नही जानता और न करता ही हूँ।...मेरे इस सारे चाहने में केवल मैं था, तुमने आगे बढकर कोई हिस्सा नही लिया—खैर मै जा रहा हूँ।'

और जब मै हाँफती हुई अपनी ऊपर की खिडकी मे पहुँची, सामने के बरफीले पहाड धूप मे मुँह धो रहे थे। टूथपेस्ट की तरह बरफ एक-दम सफेद फूली हुई सी लग रही थी। मेरा बायनाक्यूलर जल्दी उस पहाड को खोज रहा था। जिस पर दिलीप काले बिन्दु की तरह चढ़ रहा होगा। और वो था दिलीप का काला बिन्दु...धीरे-धीरे सरक रहा था उस ठंडी सफेदी पर ! ओह, लौट आओ दिलीप ?—काला बिन्दु और ठंडी बरफ !!

मैं हूँ रूबी

दफ्तर के काम से चूर माधव अपने किराये के कमरे की ओर रात के साढ़े दस बजे चला। आँखों में खटास थी और सिर मे हल्का दर्द, कदम उठाये नहीं उठ रहे थे, परन्तु घर तक पहुँचना भी आवश्यक था। अतः जैसे-तैसे ग्यारह बजे तक पैदल पहुँचा और ताला खोलकर अपनी कोठरी के अन्दर हो गया।

निशा अपनी रत्नजड़ित श्यामल चूनरी में, बाँधने चली थी, समस्त पृथ्वी के प्राणियों को। सब बेसुध हो रहे थे उसके मृदुल वचन की हिलोर में। माधव भी उस बन्धन की हिलोर में जल्द से जल्द सम्मिलित होना चाह रहा था, अस्तु, एक ओर जूते फेंककर उसी कुर्ते पाजामे में अपने बिस्तर के अन्दर घुस गया। दो चार करवटें बदलीं और फिर न जाने कब गहरी नींद मे बेसुध हो गया।

पास ही के घण्टा-घर ने रात के बारह बजाये......टन टन टन ......और उधर माधव के सिरहाने रखे टेलीफोन ने ट्रन-ट्रन, ट्रन-ट्रन ....शुरू किया। माधव की नींद खुली, दफ्तर के इस टेलीफोन

को कोसता हुआ बिस्तर से हाथ निकालकर, बिना आँख खोले, टेली-फोन का रिसीवर उठाकर बोला—

"हलो" जवाब आया।

"मैं हूँ रूबी"। माधव की आँखे खुल गई, बोला "हूँ" फिर वह मे गाने लगी—

सपना बन साजन आये।
दृग देख-देख मुसकाये।।
नैना भर आये, शर्माये।
सपना बन साजन आये।।

"हाँ, तो बताइये न कैसा लगा ?"

माधव हडबडा कर बैठ गया, रिसीवर को कस कर पकडे रहा और मधुर स्वर का आनन्द लेने लगा, रात की निस्तब्धता ने उस स्वर के सगीत मे चार चाँद लगा दिये थे। माधव प्रश्न का जवाब न दे सका... दूसरी ओर से प्रश्न किया गया—

"आप बोलते क्यो नही"

"हूँ"

"हूँ-हूँ क्या, कुछ बोलिए तो"

माधव की समझ मे कुछ नही आया। बिना सोचे समझे बोला—

"आप किस नम्बर से बात करना चाहती हैं, यह तो २००१ है।" वहाँ से जवाब आया—

"सारी राँग नम्बर" और रिसीवर धड से नीचे रख दिया गया।

माधव रिसीवर नीचे रखना भूल गया और लड़की का वाक्य "मैं रूबी हूँ," कहने का क्या प्यारा ढँग। कोई रोमांचित न भी होना चाहे, तो भी अनजाने ही हो जायेगा। प्रकृति ने नारी को भी क्या बनाया है—अहा !.........नोबल प्राईज़ मिलना चाहिये प्रकृति को।......

नहीं, पर मैं प्रकृति को नोबल प्राईज नहीं दूँगा, कभी नहीं दूँगा—क्योंकि प्रकृति मेरी अर्धाङ्गिनी को बनाना भूल ही गयी...नहीं तो मेरे पास भी एक "मै हूँ," होती......क्या मजा आता...वह हँसती, बोलती खेलती गाती......और मैं उसके मधुर कार्यों पर बार-बार जाता, उस में खो जाता और आनन्द लोक की सैर करता।

प्रकृति अगर पुरुष रूप लेकर मेरे सामने आये तो उसकी टाई पकड कर झँझोड दूँ......फिर शायद मेरी सुध अयेगी उसको। बचपन से अभी तक मैंने बिना बहस किये, अपने ऊपर इन "मैं हूँ" को राज्य करने दिया। बचपन में बहन शशि, फिर सहचरी मुन्नी, कालेज में मालती शर्मा, फिर दफ्तर मे निशारानी और अभी कुछ दिन पहले तक ललिना। परन्तु सब मुझको मील का पत्थर समझ कर आगे बढ़ गयी, और मैं घायल होकर वही पर कलपता रहा। हाय रे, मैं। दिल छिद-छिद कर छलनी हो गया।

फिर फोन के रिसीवर मे कुछ खुट-खुट होने लगी। माधव को तब ख्याल आया कि वह टेलीफोन रिसीवर को वापस रखना भूल गया, जल्दी मे उसे वापस रखा और उत्सुक नजर से उस रिसीवर को देखने लगा—वह चाहता था कि टेलीफोन फिर से टन-टन, टन-टन करे और कोई मधुर कंठ फिर से "मै हूँ, रूबी" कह दे। परन्तु प्रतीक्षा का कोई फल न मिला...जल्दी से स्विच दबाया, कमरे मे रोशनी छा गयी, आँखें मुल-मुलाने लगी, अतः स्विच दबाकर कमरे में फिर से अन्धकारमयी रजनी का राज्य बुलाया......और स्वयं निराश होकर बिस्तर में घुस गया। करवट लेने लगा। कानों मे "मै हूँ, रूबी" की ध्वनि उठने-बैठने लगी। जब तक निंदिया रानी भी आगे बढ गयी।

नीद के अभाव मे माधव के मन मे विचार उठे। अपने "मैं हूँ" से रिक्त जीवन पर विहंगम दृष्टि डालने लगा। चन्दू की बहन मुन्नी

कितनी प्यारी थी, मेरे साथ रोज़ चोर सिपाही खेलती थी, नदी पर मरे साथ मछली पकड़ने जाती थी, रेत से सीप इकट्ठे करती थी, घर से लड्डू चुरा-चुरा कर मुझे खिलाती थी पर जब कभी लड़ा करती थी तो कैसे जोर से लड़ती थी। परन्तु उसकी मुस्कराहट कितनी प्यारी थी। मालती भी उसी तरह से मुस्कराती थी। कालेज में मालती मुझ से कभी बोली नहीं परन्तु दूर से ही मुस्कराकर छिप जाती थी। उसे देखती ही मैं 'माधव" बन जाता था...अन्दर से कोई कहता यह मालती तेरी मालती है बिल्कुल उसी तरह से है जैसी शकुन्तला दुष्यन्त की थी। मैं बहुत चाहता था कि मालती मेरे ऊपर राज्य करे परन्तु वह आकाश के ध्रुव तारे के समान दूर रही, फिर न जाने किस उजाले में खो गयी। इस अकथित प्यार के अभाव ने मुझे पागल बना दिया था। परन्तु जैसे-जैसे दिन बीतने लगे मालती की याद में वो चुभन नहीं रही। मैंने एम. ए. पास किया, नौकरी मिली। वह भी एक महिला अफसर के नीचे और साथ काम करने वाली भी महिला थी। कालेज में मैंने तरह-तरह की नायिकाओं के बारे में पढ़ा था, परन्तु अफसर नायिका और 'कलीग' नायिका का तो कहीं पर नामोनिशान भी नहीं देखा। अतः मैं विभिन्न नायिकाओं के गुणों का तरह-तरह का मिक्सचर बनाने लगा परन्तु कोई भी मिक्सचर इन दफ्तर की नायिकाओं पर फिट न बैठता। इन अनुसंधान कार्य के कारण मैं अफ़सर नायिका के घुँघराले बालों में उलझ गया। इसके बाल मालती के बाल से बहुत मिलते-जुलते थे। उसका हँसने का तरीका भी मालती जैसा था। मैं इस 'अन्कन्डीशनल सेन्डर' में पड़ा हुआ था जब एक दिन दफ्तर के साथी ने कहा—"अरे, क्या यार एक विवाहिता के पीछे पड़ा है। उसका पति एक दिन ठोक कर रख देगा बच्चू"

"हाँ...नहीं........."

"अरे हाँ, नहीं क्या करता है, अगर किसी से प्यार ही करना है तो ललिता से क्यों नहीं करता। कुवारी है, अमीर है, पढ़ी-लिखी भी है।"

उसी क्षण से मैं ललिता से प्यार करने लगा। मन में तरह-तरह की योजनाये बनने बिगड़ने लगी। विवाह होगा, झकमक विवाह मंडप में बैठेंगे। ढेर सारा पैसा मिलेगा। फिर वह "मै हूँ" और उसका धन मेरा होगा बिल्कुल उतना जितना मै अपना हूँ......और मै खूब खुश होऊँगा, ढेर सारा हँसूगा...... ।

परन्तु...परन्तु एक भीगी उदास दोपहरी को पता लगा कि ललिता नौकरी छोड़कर अपने घर चली गयी है और मुझे लगा जैसे मेरी पत्नी मुझे छोडकर चली गयी। वह 'मै हूँ" मेरी नहीं बन सकी।

वाह रे मै! इतने सारे "मै हूँ" पर अनुसंधान करने के बाद भी कोई "मै हूँ" मेरी नही बनी, हाँ मुझे गहरी मीठी नीद से जगा कर "मैं हूँ रूबी" कह कर मुझे झकझोर कर लुप्त हो सकती है। "मै हूँ, रूबी"...'मै हूँ, रूबी" की गूँज में माधव को न जाने कब नीद आ गयी।

व्यक्तित्व

कुमारी महाविद्यालय की दो अध्यापिकाएँ कीर्ति नारी और चन्द्रकुमारी, होस्टल के इन्तजाम से दुःखी होकर होस्टल छोड़कर चौबीस नम्बर नई बस्ती में रहने लगी। कीर्तिरानी पिछले सात वर्ष से महाविद्यालय के हाई स्कूल के विद्यार्थियों को पढ़ा रही थी। विधवा होने के पूर्व ही वह बी० ए० पास कर चुकी थीं और बी० टी० उसने वैधव्य के बाद पास किया था। उसके पास उसके विवाहित जीवन की याद दिलाने को आठ वर्ष का उदयन था, जिसे वह अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। वैधव्य के बाद वह किसी पर बोझ बनकर रहना नहीं चाहती थी—इसीलिए वह महाविद्यालय में भरती हो गई। चन्द्रकुमारी एम० ए० पास करके ठीक साल भर पहिले महाविद्यालय में आई थी। वह हाई स्कूल एवं इन्टरमीजिएट विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाती थी। कहने को चन्द्रकुमारी अर्थात् चन्द्रा के सब थे, माता, पिता, बहन एवं भाई, परन्तु वह सब से अलग रह कर विद्याध्ययन में रत रहना ही पसन्द करती थी चन्द्रा को कीर्ति से बहन का प्यार तो मिला ही, उसके साथ रहने से उसे

पी० एच० डी० के अध्ययन के लिए शान्त वातावरण और खेलने एवं मन बहलाने के लिये उदयन भी मिला।

इन्हीं लोगों के पड़ोस में, पच्चीस नम्बर वाले मकान में दो युवक रहते थे। रमेश एक हिन्दी दैनिक के दफ़्तर में उपसंपादक का काम करता था और रजनीकान्त शहर के अमीर एवं नामी घरों में बच्चों को पढ़ाता। देखने में रमेश चुप एवं शर्मीला लगता और रजनीकान्त अत्यंत चुस्त और चालाक। सम्भवतः इसी कारण वह शहर के अमीर, समाज में मान पाने वालों एवं गवर्नमेंट के उच्च पदाधिकारियों के घरों में उस का आना जाना था...कही ट्यूशन के बहाने, कुछ के घरों में राशन खरीदने के बहाने, कुछ में पाठ-पूजन के बहाने। सक्षेप में कह सकते है कि जिसे जो भी काम हो, रजनीकान्त सब के लिए सदा प्रस्तुत रहते थे। बच्चों की जन्म-पत्री बनाना, लड़के-लड़कियों की कुंडलियाँ मिलाना, बच्चों को स्कूल में दाखिल करना...सभी कामों में वह पारंगत थे। इस सब के बदले में वह केवल घर की लड़कियों से किंचित् मधुर व्यवहार चाहते थे जब से पड़ोस वाला घर आबाद हुआ है, उनका सारा ध्यान उधर की ओर ही आकृष्ट हो गया। सब से पहले उसने उदयन को अपनी ओर आकर्षित किया। उसे पढ़ा कर कक्षा का सर्वप्रथम विद्यार्थी बना देने का उन्होंने आश्वासन दिया। रात के समय वह उसे कहानी सुनाता। कुछ दिनों मे ही उदयन रजनीकान्त पर मानो लट्टू हो गया। इस मैत्री के फलस्वरूप रजनीकान्त का उदयन की माँ की सहेली से परिचय होना भी अवश्यभावी ही था। उसने पहिले ही अवसर पर उदयन के घर में प्रवेश किया और महिलाओं को बहन' पुकार कर वहीं बैठ गया और इधर-उधर की गप्पें हाँकने लगा। देर हो जाने से भोजन का समय भी आ गया, अतः बिना खाना खिलाये उसे कोई कैसे जाने देता? अस्तु, जब वह खाना खा कर घर लौटा तो रमेश से उसने चन्द्रा की बहुत प्रशंसा

की...इतनी की कि रमेश भी चन्द्रा का परिचय पाने के लिए आतुर हो उठा। उसने रजनीकान्त से जब इसके लिए आग्रह किया तो वह हँस कर टाल गया और अपनी खाट पर लेट कर हँसते-हँसते सो गया।

उस रात को रमेश को नींद न आई। उसके मस्तिष्क में ऊलजलूल कई बातें आ-जा रही थीं। कभी वह सोचता कि रजनीकान्त की खुशामद करके चन्द्रा से परिचय प्राप्त करेगा तो कभी सोचता कि इसके लिए उदयन का ही माध्यम ठीक रहेगा। फिर...फिर वह विवाह करेगा घर में पायल की रुनक-झुनक से माधुर्य फैलेगा और वह संसार के समस्त सुखों का उपभोग करेगा। अब क्या है? नौकर कच्चा-पक्का खाना बना कर सामने रख देता है। अकेलापन न खले, इसलिये रजनीकान्त को साथ में रखना पड़ा है। रजनीकान्त, वह इतना कमाता है—परन्तु घर के खर्च के लिये क्या कभी एक पैसा भी देता है? अनेक बार घर में राशन नहीं था—परन्तु एक बार भी उसने मुख से यह नहीं कहा कि लो पैसे, राशन ले आओ। जिन दिनों में घर में खाने को कुछ भी न होता, वह सबेरे ही घर से निकल जाता और रात के दस-ग्यारह बजे से पूर्व न लौटता। किसी न किसी के घर खाना खा कर। घर पहुँच कर वह यह भी तो न पूछता कि भाई रमेश, तुमने कुछ खाया-पीया भी है या नहीं? परन्तु महीने के प्रारंभ में जब घर में सब कुछ होता तब वह खाने के समय कभी कहीं न जाता। दोनों समय चाय पीता, दोनों समय खाना खाता। यह सब उसे अपनी कमज़ोरी के कारण सहना पड़ रहा है। अगर वह अकेला रह सके तो इसे धक्का देकर निकाल दे...परन्तु कभी-कभी यह उसके ऊपर कृपा भी करता है...पता नहीं किस-किस की बहू-बेटियाँ साथ ले आता है और उन्हें छोड़ कर चला जाता है। उन्हीं के साथ उसकी कुछ घड़ियाँ रंगीनी के साथ कट जाती हैं...नहीं तो चारों ओर कितनी नीरसता छाई हुई है। चन्द्रा...यदि चन्द्रा से शादी होगई तो?...

तो...उसके दैनिक जीवन में रस और रंग दोनों छा जायेंगे। चन्द्रा ! चन्द्रा !!.. इस प्रकार के विचारों में डूबते-उतराते रमेश को न जाने कब नींद आ गई ?

उधर रजनीकान्त के चले जाने पर कीर्ति एवं चन्द्रा उसकी बड़ाई कर रहे थे। उन दोनों को पड़ोस के दोनों युवक कुछ भले मानस से लगे और उन्होंने उन से परिचय बढ़ाने का निश्चय किया। जिस से आवश्यकता पड़ने पर उनसे सहायता मिल सके। घर में तो कोई आदमी है नहीं जो कभी आवश्यकता पड़ने पर दौड़ाया जाय...क्यों न पड़ोस के इन युवकों को भाई बनाया जाय ? रक्षा-बन्धन भी दूर नहीं है। उसी दिन दोनों को बुला कर राखी बाँधेंगे। चन्द्रा को भी यह सुझाव पसन्द आया। उसने कीर्ति की इस सूझ की सराहना की और फिर दोनों सो गयी। उदयन को दो-दो व्यक्तियों को "मामा" के नाम से सम्बोधित करने का अवसर मिला है। वह फूला नहीं समाता। इधर चन्द्रा मन ही मन सोचती. जब रमेश से जान पहचान हो जायगी तो वह उसकी पत्रिका में लेख, कहानी आदि दिया करेगी। वह छपेंगी...उसका नाम अखबार में निकलेगा, लोग उसको पढ़ेंगे और लेखिका की प्रशंसा करेंगे।

दूसरे दिन से रजनीकान्त का इनके घर मे नित्य प्रति आना-जाना प्रारंभ हो गया। घनिष्टता बढ़ती गई। कीर्ति एवं चन्द्रा ने अपने कुटुम्ब एव अपने बारे मे सब कुछ उसे कह सुनाया। चन्द्रा ने तो अपना बैंक-बैलेन्स भी बता दिया। दोनों ने अपनी पत्रियाँ देकर उससे वर्ष-फल निकलवाया। उदयन की पत्रिका तो एकदम नये ही सिरे से बनाई गई। दस-बारह दिनों में ही इन तीनों में इतनी घनिष्टता बढ़ गई कि लगता था जैसे वर्षों पुरानी जान-पहचान हो। रजनीकान्त अधिकार पूर्वक जो भी चाहता, माँग कर या पकवा कर खाता। कीर्ति एवं चन्द्रा भी इतने ही अधिकार से उससे बाजार का काम लेतीं।

एक दिन सब बैठे इधर-उधर की गप्प हाँक रहे थे। रजनीकान्त अपनी अमीरी की डींग हाक रहा था। कह रहा था कि वह बड़े अमीर ज़मीदार का बेटा है। परन्तु सौतेले भाइयो से न पटने के कारण वह यहाँ शहर मे रहता है। जिस दिन उसका बूढा बाप मर जायगा, वह पचास बीघे ज़मीन का मालिक बन बैठेगा। उसकी बहू महारानी के समान सुन्दर है और अपने मायके मे रहती है। यह बाते चल ही रही थी कि चन्द्रा ने उदयन को भेज कर रमेश को बुला लिया। रमेश हिचकता-झिझकता आया और उसने हाथ जोड कर नमस्ते किया। उदयन दौड़ कर कुर्सी उठा लाया। रमेश बैठ गया। कुछ देर तक चुप्पी रही। फिर कीर्ति ने उसके छपे लेखो की प्रशसा की। रजनीकान्त ने भी हाँ मे हाँ मिलाई। कुछ देर बाद दोनो युवक उठकर चले गये। कीर्ति ने चन्द्रा से पूछा कि अब तक वह चुप क्यो बैठी थी ? चन्द्रा ने बताया कि रमेश की मुख-मुद्रा उसके छोटे भाई से बहुत मिलती-जुलती है। उसे ऐसा लग रहा था जैसे उसका छोटा भाई सामने खडा हो...इन्ही विचारो की उथल-पुथल मे पडकर वह कुछ कह नही पाई। उधर कीर्ति के दिल का दूसरा ही हाल था। न जाने क्यो रमेश को देख कर वह कुछ खोया-खोया सा अनुभव कर रही थी। जितनी भी देर रमेश बैठा रहा, उसे अपने स्वर्गीय पति की याद आती रही। कभी-कभी उसे रमेश की भाव भंगी मे उनकी एक अस्पष्ट सी झलक दिखाई पडी थी। वह रमेश के रहते-रहते स्वयं भी अधिक नही बोली थी, इसलिये चन्द्रा की चुप्पी उसे खली थी।

घर पहुँच कर रजनीकान्त और रमेश मे खुलकर बात हुई और रमेश ने रजनीकान्त से अपने दिल की बात कही। रजनीकान्त ने रमेश को राय दी, अगर वह चन्द्रा से विवाह ही करना चाहता है तो उसे आगे बढ़कर उससे मैत्री स्थापित करनी चाहिये...चुप रहने से कुछ नहीं

हो सकता है। उसके सौंदर्य से प्रभावित होकर मौन धारण करने से मन की मन्शा पूरी नही हो सकती। रजनीकान्त के मन में एक नई सूझ आई। उसने सोचा अगर रमेश और चन्द्रा का विवाह हो जाय तो चन्द्रा के पैसों से एक प्रेस खोला जा सकता है। उससे मासिक पत्र का प्रकाशन एवं पुस्तकों की छपाई भी हो सकेगी। रमेश सम्पादक बनेगा और वह मैनेजर। फिर उसे दर-दर भटक कर ट्यूशन करने की आवश्यता न रहेगी। वह आराम से मैनेजरी कर के खूब पैसा लूट सकता है। रमेश अपने कमरे में चला गया। एक और कविता लिखने बैठ गया। वह कविता दो दिन बाद दैनिक पत्रों मे छपी...चन्द्रा ने उसे पढ़ा और मन ही मन बहुत प्रसन्न हुई। अब से पहिले वह इस बात की कल्पना तक नहीं कर पाई थी कि वह भी कभी कविता का विषय बन सकती है।

इसी प्रकार से दिन कटने लगे; पारस्परिक घनिष्टता बढ़ती जा रही थी। चन्द्रा की लिखी कहानियों को रमेश अपने दैनिक पत्र में छपवाने लगा। चन्द्रा को कुछ पारिश्रमिक भी मिलने लगा। रक्षाबन्धन के दिन चन्द्रा ने सुबह ही दोनों युवकों को बुला भेजा। वह चाहती थी कि उन्हें राखी बाँधने के बाद ट्रेन से अपने घर जाय और दोपहर तक अपने भाइयों को भी राखी बाँधे। रमेश तो सो रहा था। अतः रजनीकान्त ने आ कर राखी बँधवाई। कीर्ति पूजा-गृह में थी। अतः वह राखी न बाँध सकी। चन्द्रा के चले जाने के बाद कीर्ति उदयन के साथ अपनी जेठानी के घर चली गई। उसकी जेठानी उसी शहर में रहती थी।

चन्द्रा गई तो थी एक दिन के लिये परन्तु चार दिन तक नहीं आई। उसे अब की बार अपना घर बहुत अच्छा लगा। संयोग से उसकी दोनों छोटी बहनें जो विवाहित थीं, अपने पति के साथ आई हुई थीं। भावज अपने मायके नहीं गई थी। छोटा भाई भी मेहमानों के आजाने के कारण कालेज नहीं गया। सारे कुटुम्ब को इकट्ठा देख कर माता-पिता भी बड़े

प्रसन्न थे। इन सब के बीच चन्द्रा के चार दिन न जाने कहाँ कट गए ? चन्द्रा इन चार दिनों तक न जाने क्यों दोनों बहनोइयों, दोनों भाइयों, यहाँ तक कि अपने पिता के आचार-व्यवहार और साधारण शिष्टता को बड़े ध्यान से देखती रही। न जाने क्यों अपने परिवार वालों और निकट के संबन्धियों की भाषा भाव और व्यवहार उसे उन लोगों से बिल्कुल भिन्न लगा जिनके साथ वह इधर कुछ दिनों से संपर्क में आई थी। अपने घर रहते हुए उसे निरंतर रजनीकान्त और रमेश का ध्यान आता रहा। उसने इन चार दिनो में अनुभव किया कि जो दो युवक इधर उसके और कीर्ति के सम्पर्क में आये हैं और जिनसे घनिष्टता इतनी बढ़ रही है वह सुरुचि, भाव आदि की दृष्टि से इसके परिवार के साधारण से भी साधारण व्यक्ति से कितने हेठे, कितने निम्न श्रेणी के जान पड़ते हैं। उसे ऐसा बोध हुआ मानो उसके संभ्रान्त और सुसंस्कृत परिवार वालों से रमेश और रजनीकान्त की समानता तक नहीं की जा सकती। उसे कुछ ऐसा लगा जैसे उसके परिवार के शिष्ट संस्कृत एवं शिक्षित लोगों की समानता में रजनीकान्त एवं रमेश सर्वथा निम्न और कुरुचिपूर्ण परिवारों मे पले व्यक्ति थे। उनमें संस्कृति का तो लेशमात्र भी नहीं था। वह बात-बात मे तो गन्दी भाषा का प्रयोग करते थे। देखने में भी कहाँ उसके भाई और बहनोई, उनके शरीर से जैसे एक आभा निकलती हो और यह रजनीकान्त एवं रमेश; यह ऐसे लगते जैसे उन्हें धूप में सुखा दिया गया हो...देखने में काले। माँस का तो उन पर नाम ही नहीं। ऐसा लगता था जैसे भगवान ने हड्डियों पर चमड़ी का गिलाफ़ चढ़ा दिया हो। उसे मन ही मन इन दोनों से सम्पर्क स्थापित करने का, रजनीकान्त को राखी बाँधने का बड़ा खेद हुआ, परन्तु घर वालों को उसने मन की इस उथल-पुथल के बारे में कुछ नहीं कहा। चौथे दिन माँ ने उससे विवाह की बात चलाई तो वह

चिढ़ कर चल दी और यहाँ आगई।

चन्द्रा से मिल कर उदयन बड़ा खुश हुआ। रिक्शे की खड़-खड़ सुन कर रजनीकान्त और रमेश भी बाहर आए। उन्होंने उसका सामान उतारा और चन्द्रा के घर की मिठाई खा कर तथा कुछ गपशप करके सब अपने-अपने काम में लग गये। आज चन्द्रा को रजनीकान्त एवं रमेश का माँग कर मिठाई खाना और वह भी सब खत्म कर देना बहुत बुरा लगा। रमेश ने चार दिन के बाद चन्द्रा को देखा तो मन ही मन बड़ा खुश हुआ। उसके घर की बढ़िया-बढ़िया मिठाई और उसके शरीर पर नये गहनों का सैट देख कर उसे यक़ीन हो गया कि चन्द्रा वास्तव मे ही एक सम्पन्न घर की लड़की है। उसके नाम पर ज़रूर तीस-चालीस हज़ार रुपये जमा होंगे। उसका स्वर्णिम भविष्य साकार रूप मे उसके सामने आ खड़ा हुआ। वैसे रमेश कुछ कम्युनिष्ट विचारों का था। अमीरों को गरीबों का दुश्मन ही मानता तथा उन्हें समाज से बाहर निकालने के नारे उठाया करता। दोस्तों के बीच बैठकर एक ओर तो वह काफ़ी एवं सिगारेट पीते हुऐ नौकरी छोड़ देने का एलान करता और दूसरी ओर कम्युन में रह कर गरीबों की सेवा करने की डीग भी मारता। कभी कहता कि वह ऐसी-ऐसी कहानियाँ एवं उपन्यास लिखेगा जिसको पढ़कर भारतवासी रातो-रात कम्युनिष्ट बन जायँगे। फिर कम्यूनिष्ट गवर्नमेंट बनेगी। उसमें वह कला एवं संस्कृति का मंत्री बनेगा।

चार दिन बाद चन्द्रा को देकर आज वह सब कुछ भूल गया। अब तो उसे उस के पैसे ही प्रिय लगने लगे। इस लिए वह दिन-रात अब इस चिन्ता में रहने लगा कि जैसे-तैसे चन्द्रा के साथ उसका विवाह हो जाय। उसने रजनीकान्त का तो जीना-मरना दूभर कर दिया...चौबीसों घंटे चन्द्रा की चर्चा। सुनते-सुनते उसके कान पक गये। अपनी जान बचाने

के लिए रजनीकान्त ने अन्त में निश्चय किया कि कल जो भी हो, विवाह की बात चलावेगा।

कई दिन ब द रजनीकान्त ने एक दिन सवेरे-सवेरे देखा कि उदयन फूलों की एक वेणी लिए चला आ रहा है। पूछने पर पता लगा कि आज चन्द्रा का जन्म दिन है। सुनते ही रमेश ने इच्छा प्रगट की कि वह चन्द्रा को आज कोई उपहार भेंट करेगा। रजनीकान्त ने पूछा "परन्तु इसके लिए पैसे कहाँ से लाओगे ?"

प्रश्न सुन कर वह चुप होगया। कुछ देर सोचने के बाद रमेश ने निश्चय किया कि वह कहीं से उधार माँग कर लायगा। इसके लिए रजनीकान्त से कहा तो उस ने साफ इन्कार कर दिया। विवश हो रमेश पड़ोस के दूध तथा पान वाले से उधार माँगने गया। परन्तु सफल न होने के कारण निराश घर लौटा। रजनीकान्त ने सूझ दी कि वह दोनों इकट्ठे जन्म दिन की बधाई देने जायँ, मिठाई खायँ और खुशी मनाकर घर लौट आएँ...और कोई उपाय न देख रमेश इस पर राजी हो गया। दोनों नहा-धोकर चन्द्रा को उसके जन्मदिन की बधाई देने जा पहुँचे। चन्द्रा ने सलज्ज मुस्कान सहित उनका स्वागत करके बधाइयों के लिए धन्य-वाद दिया। दोनो ने हँसते हँसते मिठाई की माँग की। चन्द्रा को उनकी यह माँग बहुत खली। उसने यह अनुभव किया कि यह दोनों केवल माँग सकते हैं, कुछ दे नहो सकते। और माँगते भी ऐसे भोड़े ढंग से हैं मानो उनका पैतृक धन गड़ा हो। इसी कारण कुछ सोच कर चन्द्रा ने विरक्त भाव से कह दिया, "मैं अपना जन्मदिन नहीं मनाती।" रसोई घर से हाथ पोंछती हुई कीर्ति आकर बोली—"तू न मनाये तो न मना, मैं तो अपनी बहनापली का जन्मदिन जरूर-जरूर मनाऊँगी। "जा उदयन, ताजी-ताजी मिठाई खरीद ला।"

उदयन गया और मिठाई ले आया। सब ने खाई, तब कीर्ति ने उनके

चलते समय उन्हें रात के खाने के लिये भी आमंत्रित कर दिया। कीर्ति और उदयन बहुत खुश थे। परन्तु न जाने क्यों चन्द्रा कुछ खिन्न थी। उसे यह सब विचित्र सा लग रहा था। अब तक तो उसे रजनीकान्त एवं रमेश की बातों से घृणा पैदा हुआ करती थी। परन्तु आज उसे लगा जैसे कीर्ति की बातें भी कुछ अधिक रुचिकर नहीं हैं। उस दिन चन्द्रा का मन कालेज में भी न लग रहा था। उसे आज अपना अविवाहित रहना खल रहा था। उसे ऐसा लगा जैसे उस ने अविवाहित रहकर अध्ययन और मनन का पथ चुनने में बड़ी गलती की है। क्योंकि इसी के फलस्वरूप आज वह ऐसे लोगों से घिर गई है जो उसके बौद्धिक, मानसिक और पारिवारिक स्तर से बहुत नीचे है। उसे ऐसा लगा जैसे रजनीकान्त और रमेश भिखमंगे से अधिक कुछ और नहीं हैं और कीर्ति ? वह भी उन दोनों से सहानुभूति रखने वाली ज़रा कुछ ऊँचे प्रकार की भिखमंगी है। उसका ध्यान गया अपनी बहनों बहनोइयों की ओर। उसकी दोनों बहनें अच्छे घर में ब्याही गई थी, उनके पति अच्छा कमाते, अच्छा खाते और अच्छा पहनते हैं। वह शिष्ट समाज मे रहते हैं। उन दोनों को देख कर उसे कितनी अधिक प्रसन्नता होती है ?

इन्हीं विचारों में उसका पूरा दिन कट गया। कीर्ति और चन्द्रा जब कालेज से घर लौटने लगीं तो रास्ते में ही कीर्ति ने सब्जी एवं मिठाइयाँ खरीदी। घर पहुंचने पर उसने अच्छे-अच्छे खाने तैयार किए। चन्द्रा को कीर्ति का उत्साह देख कर ऐसा लगा जैसे वह बढ़िया खाना उसके लिए नही बन रहा है उन दो युवकों के किए बन रहा है, जिनकी ओर उसका इतना अधिक झुकाव है। रमेश पर तो उनकी बहुत विशेष कृपा रहती ही है, रजनीकान्त तो जैसे घर का ही आदमी बन गया है। वह किसी समय भी कहीं पर घुस आता है... न किवाड़ खटखटाना, न आज्ञा माँगना। धड़धड़ाता हुआ घर में घुसा ही चला आता है।

कीर्ति जब खाना पका कर रसोई से निकली तो चन्द्रा का रूखा व्यवहार बहुत बुरा लगा। परन्तु उसने कुछ कहा नहीं, क्योंकि उसने सोचा कि सम्भवतः चन्द्रा को अपनी माँ की याद आ रही हो। नहा-धोकर वह तैयार ही हुई थी कि रमेश और रजनीकान्त साफ-सुथरे कपड़े पहने आगये। चन्द्रा ने आज पहली ही बार इन दोनों को इतने साफ कपड़ों में देखकर अनुभव किया कि उनके स्वच्छ परिधान के विपरीत उनके शरीर का रंग कितना काला...पुरुष और ग्राम्य है। आज पहिली ही बार उसे कुछ ऐसा लगा मानो उनकी वेशभूषा की यह स्वच्छता उनकी स्वाभाविक श्यामता को ढाँकने में तो असफल है ही...उनके हृदय की कालिमा भी मानो यहाँ वहाँ से झाँक सी रही है। फलस्वरूप उसकी अन्तरआत्मा में इसके विरुद्ध जो अरुचि उत्पन्न हो चुकी थी, वह और भी प्रबल और पुष्ट बन गई।

खाना खाने के बाद रजनीकान्त कीर्ति एवं उदयन सैर करने चले गये। चन्द्रा को कीर्ति का यह षड्यन्त्र सा लगा, नहीं तो वह आज पहली ही बार रजनीकान्त के साथ घूमने क्यों जाती और यदि जाना ही था तो रमेश को घर से विदा करके ही जाती; उसे उसके साथ अकेले घर में छोड़कर क्यों गई? उसे कीर्ति का व्यवहार बड़ा अनुचित, और सदेहजनक लगा। उसे कुछ ऐसा ही बोध हुआ मानो कीर्ति उन नीच स्त्रियों के समान है जो लोगों को लड़कियाँ पहुँचाने का पेशा करती हैं। जब चन्द्रा इन विचारों में डूब-उतरा रही थी तब घर के शान्त वातावरण में रमेश बैठा रोमांचित हो रहा था। कुछ देर तक इधर–उधर की बात करने के बाद बड़ी युक्ति के साथ उसने चन्द्रा से अपने हृदय की अभिलाषा प्रकट कर दी और विवाह का प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। रमेश इस प्रकार की बातें आज करेगा इसके लिए चन्द्रा मन ही मन तैयार बैठी थी। अतएव बातें सुनकर उसे जितना चौंकना चाहिए था और